राजस्थान पुरातन ग्रन्थमाला

राजस्थान राज्य द्वारा प्रकाशित

सामान्यत अखिल भारतीय तथा विशेषत. राजस्थानदेशीय पुरातनकालीन
संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, राजस्थानी, हिन्दी आदि भाषानिबद्ध
विविध वाङ्मयप्रकाशिनी विशिष्ट ग्रन्थावली

प्रधान सम्पादक

पद्मश्री जिनविजय मुनि, पुरातत्त्वाचार्य

सम्मान्य सञ्चालक, राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर,
ऑनरेरी मेम्बर ऑफ जर्मन ओरिएण्टल सोसाइटी, जर्मनी,
निवृत्त सम्मान्य नियामक (ऑनरेरी डायरेक्टर)
भारतीय विद्याभवन, बम्बई; प्रधान सम्पादक,
सिंघी जैन ग्रन्थमाला, इत्यादि

ग्रन्थाङ्क ६८

समदर्शी आचार्य हरिभद्र

प्रकाशक
राजस्थान राज्याज्ञानुसार
सञ्चालक, राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान
जोधपुर (राजस्थान)

समदर्शी आचार्य हरिभद्र

[बम्बई यूनिर्वसिटी सञ्चालित ठक्कर वसनजी माधवजी व्याख्यानमाला मे दिये गये पाँच व्याख्यान]

व्याख्याता
पण्डित सुखलालजी संघवी, डी. लिट्.

अनुवादक
शान्तिलाल म. जैन
एम. ए., शास्त्राचार्य

प्रकाशनकर्त्ता
राजस्थान राज्याज्ञानुसार
सञ्चालक, राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान
जोधपुर (राजस्थान)

विक्रमाब्द २०१९
प्रथमावृत्ति १०००

भारतराष्ट्रीय शकाब्द १८८४

ख्रिस्ताब्द १९६३
मूल्य ३ ००

मुद्रक—श्री सोहनलाल जैन, जयपुर प्रिन्टर्स, जयपुर

अनुक्रमणिका

संचालकीय निवेदन

राजस्थान पुरातन ग्रंथमाला का प्रारंभ करते समय मन मे यह भावना थी कि राजस्थान की विविधरंगी ज्ञानश्री का दर्शन जिज्ञासु को कराना। अबतक जो ग्रन्थ प्रकाशित हुए है, उनमे जो वैविध्य है वह किसी भी पाठक से छिपा नही है। हमारा यह प्रयत्न रहा है कि राजस्थान मे जो सांस्कृतिक सामग्री छिपी हुई पड़ी है उसको प्रकाश मे लाना। इस दृष्टि से हमने संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और प्राचीन राजस्थानी भाषा के अनेक विषय के ग्रन्थों का प्रकाशन किया है। और, अब राजस्थान की साहित्यिक-श्री के निर्माताओ मे अग्रणी आचार्य हरिभद्र के जीवन की तथा उनके दर्शन और योग विषयक साहित्य मे योगदान की विशद् व्याख्या करने वाला पंडितप्रवर श्री सुखलालजी संघवी का 'समदर्शी आचार्य हरिभद्र' नामक ग्रंथ प्रकाशित करते हुए हमे परम प्रमोद का अनुभव हो रहा है।

आचार्य हरिभद्र का बाल्यकाल आधुनिक चित्तौड के पास स्थित प्राचीन भग्नावशिष्ट माध्यमिका नगरी मे बीता था। जैन दीक्षा लेने के बाद तो समग्र राजस्थान और गुजरात मे उन्होने विचरण किया होगा। आचार्य हरिभद्र ने किस विषय मे नही लिखा? कथा-उपदेश से लेकर तत्कालीन विकसित भारतीय दर्शन के महत्त्वपूर्ण ग्रंथ उन्होने लिखे। कथाकार, धर्मोपदेशक, वादी, योगी और समदर्शी तत्त्वचिन्तक के रूप मे वे अपने साहित्य के माध्यम से हमारे समक्ष उपस्थित होते है। उनके इस बहुदर्शी जीवन मे से समत्व को प्रदर्शित करनेवाले योग और दर्शन विषयक ग्रन्थो का अध्ययन करके पंडितप्रवर श्री सुखलालजी ने बंबई यूनिवर्सिटी मे गुजराती भाषा मे जो व्याख्यान दिये थे, प्रस्तुत ग्रंथ उनका हिन्दी अनुवाद है। इसमे आचार्य हरिभद्र की योग और दर्शन विषयक साहित्य मे जो अपूर्व देन है उसकी विशद व्याख्या की गई है। आचार्य हरिभद्र वैदिक, बौद्ध और जैन तीनो परंपराओ के योगविपयक साहित्य से पूर्ण परिचित थे, किन्तु साहित्यिक परिचय होना एक बात है और योग का अनुभव दूसरी बात। आचार्य हरिभद्र के योगविषयक ग्रंथो मे जिस समन्वयदृष्टि का दर्शन हमे होता है वह केवल अध्ययन का परिणाम न होकर अनुभवजन्य भी है। यही कारण है कि वे, परिभाषा का भेद होते हुए भी, विविध योगमार्गों मे अभेद का दर्शन स्वयं कर सके और भावी पीढी के लिये अपने अनुभव का निचोड अपने योगविपयक ग्रथो मे निबद्ध भी कर सके। आचार्य हरिभद्र की तत्त्वचिंतक

दृष्टि से दार्शनिको के वादो की निस्सारता भी ओझल न रह सकी। यही कारण है कि उन्होने अपने शास्त्रवार्तासमुच्चय नामक ग्रंथ मे सब दर्शनो मे परिभाषाभेद के कारण होनेवाले विवाद का शमन करके अभेद दर्शन कराया है। इतना ही नही, किन्तु 'कपिल आदि सभी दार्शनिक प्रवर्तको का समान रूप से आदर करणीय है, क्योकि वे सभी समान भाव से वीतरागपद को प्राप्त थे'–इस बात का तर्कसंगत समर्थन भी आचार्य हरिभद्र ने किया है। राजस्थान की एक विभूति ने भारतीय योगमार्ग और दर्शनमार्ग मे इस प्रकार अभेददर्शन उपस्थित किया, यह राजस्थान के लिये गौरव की बात है। अतएव 'समदर्शी आचार्य हरिभद्र' का प्रस्तुत प्रकाशन राजस्थान पुरातन ग्रंथमाला मे हो, यह सर्वथा समुचित है।

'समदर्शी आचार्य हरिभद्र' के लेखक–व्याख्याता पंडितप्रवर श्री सुखलालजी मेरे परम श्रद्धेय मित्र है। उनकी तलस्पर्शी विद्वत्ता का विशेष परिचय देने की आवश्यकता नही है। जिस प्रकार आचार्य हरिभद्र के जीवन का सार समदर्शित्व है उसी प्रकार पडित श्री सुखलालजी का जीवनकार्य भी समत्व की आराधना है। उन्होने भी समग्र भारतीय दर्शनों का अध्ययन किया है और विरोधशमन के मार्ग की शोध की है। उनके समग्र साहित्य की एक ही ध्वनि है कि विविध विचारधाराओ मे, फिर वे दार्शनिक हो, धार्मिक हों या राजनैतिक, किस प्रकार मेल हो ? जन्म से गुजराती होकर भी उन्होने गुजराती की ही तरह राष्ट्रभाषा हिन्दी को भी अपने साहित्यलेखन के माध्यम के रूपमे अपनाया है। उनके हिन्दी लेखन का आदर करके राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धा ने उन्हे महात्मा गाधी पुरस्कार प्रदान किया, जो अहिन्दीभाषी लेखको को हिन्दी मे उच्च कोटि का साहित्य लिखने के कारण दिया जाता है। उनके गुजराती साहित्य का आदर करके भारत सरकार प्रतिष्ठित साहित्य अकादमी ने उनके 'दर्शन अने चिंतन' नामक गुजराती लेखो के संग्रहग्रथ के लिये ५०००) का और बंबई सरकार ने २०००)का पुरस्कार दिया था। प्रस्तुत 'समदर्शी आचार्य हरिभद्र' के लिये भी गुजरात सरकार ने पुरस्कार दिया है। इनके अतिरिक्त अन्य भी कई पुरस्कार उन्होने प्राप्त किये है। उन्होने संस्कृत-प्राकृत मे कई ग्रन्थो का संपादन किया है। उनके स पादनो मे तुलनात्मक टिप्पणो की विशेषता है, जो उनके द्वारा संपादित ग्रन्थो के पूर्व दुर्लभ थी। उनके संपादनो मे विस्तृत प्रस्तावनाएँ लिखी गई हैं, जो तत्तद्विषय का हार्द खोलकर वाचक के समक्ष रख देती हैं। ई स. १६५७ मे अखिल भारतीय स्तर पर उनका सम्मान बंबई मे किया गया। तब तत्कालीन उपराष्ट्रपति डॉ० राधाकृष्णन ने उनके शिष्यो और प्रशंसको के द्वारा एकत्र की गई करीब एक लाख की निधि उनको समर्पित की थी। उसका श्रीपंडितजी ने

ज्ञानोदय ट्रस्ट के नामसे एक सार्वजनिक ट्रस्ट बना दिया है। भारतीय धर्म और संस्कृति के विषय मे अध्ययन और लेखन को प्रगति देने के लिये उस ट्रस्ट के धन का उपयोग सार्वजनिक रूप से होता है। मैने एक राजस्थानी आचार्य के विषय मे लिखा गया ग्रन्थ राजस्थान पुरातन ग्रन्थमाला मे प्रकाशित हो यह इच्छा श्रद्धेय पंडित श्री सुखलालजी के समक्ष प्रदर्शित की, तब पंडितजी ने उसे सहर्ष स्वीकार किया औरज्ञानोदय ग्रन्थमाला मे प्रकाशित न कराकर हमें वह दे दिया। एतदर्थ ग्रन्थमाला की ओर से मै उनका आभार मानता हू। यहाँ मै यह भी निर्दिष्ट कर देना चाहता हूँ कि ज्ञानोदय ट्रस्ट के ट्रस्टियों ने ही गुजराती से हिन्दी मे अनुवाद के लिए खर्च किया है। एतदर्थ मैं ज्ञानोदय ट्रस्ट का भी आभार मानता हूं।

बंबई यूनिवर्सिटी द्वारा ये व्याख्यान दिये गये थे और उस यूनिवर्सिटी ने ही गुजराती मे उन्हें प्रकाशित किया है। उनका हिन्दी अनुवाद ज्ञानोदय ट्रस्ट प्रकाशित करे इसकी अनुमति यूनिर्वसिटी के अधिकारियो ने श्री पडितजी को दी थी। उन्होने उसी अनुमति के बल पर हमे इसे प्रकाशित करने की अनुज्ञा दी है। अतएव यहाँ बंबई यूनिर्वासिटी का भी आभार मानना आवश्यक है।

आशा है, प्रस्तुत प्रकाशन से समस्त राजस्थान का विद्वद्वर्ग अपने एक अतीत समदर्शी विद्वान् आचार्य का परिचय पाकर गौरव का अनुभव करेगा और अन्य हिन्दी भाषाभाषी विशाल वाचकवर्ग भी राजस्थान के इस बहुमूल्य विद्वद्रत्न का परिचय पाकर अपने को धन्य समझेगा।

मुनि जिनविजय
सम्मान्य सचालक
राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान

आषाढ़ी पूर्णिमा,
स० २०२० वि०

प्रस्तुत हिन्दी अनुवाद

मूल गुजराती व्याख्यानो का यह हिन्दी अनुवाद अहमदाबाद की श्री ह० का० आर्ट्स कॉलिज के संस्कृत, प्राकृत और हिन्दी के प्राध्यापक श्री शांतिलाल म० जैन ने किया है। कई मित्रो का यह आग्रह था कि हिन्दी मे ये व्याख्यान प्रकाशित हों यह आवश्यक है; अतएव मैने बम्बई यूनिवर्सिटी से हिन्दी मे प्रकाशन की अनुमति मागी, जो उसके अधिकारियो ने सहर्ष दी। एतदर्थ मै उनका आभारी हूँ। पहले यह विचार था कि यह अनुवाद ज्ञानोदय ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित किया जाय, किन्तु मेरे सहृदय मित्र और राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान के अध्यक्ष आचार्य श्री जिनविजयजी ने राजस्थान पुरातन ग्रंथमाला मे प्रकाशित करने की इच्छा प्रदर्शित की। मैने साभार यह मजूर किया और यह सुन्दर हिन्दी प्रकाशन अब वाचको के समक्ष उपस्थित है। हिन्दीभाषी जिज्ञासुओ की तृप्ति यदि इस अनुवाद से होगी तो मैं अपना तथा अनुवादक और प्रकाशक का श्रम सफल समझूंगा।

अहमदाबाद — सुखलाल संघवी

२५-४-६३

पुरोवचन

ठक्कर वसनजी माधवजी व्याख्यानमाला की ओर से उस व्याख्यानश्रेणी में व्याख्यान देने का निमंत्रण जब मुझे मिला और मैंने उसको स्वीकार किया, तब गुजरात के किसी असाधारण विद्वान् एवं उसकी कृतियो के विषय मे कुछ कहने का विचार मेरे मन मे आया। परन्तु किस एक विद्वान् एवं उसकी किन कृतियो के बारे मे व्याख्यान दिये जायँ यह एक विचारणीय विषय था।

आचार्य हरिभद्र के पूर्ववर्ती एवं उत्तरवर्ती कितने ही जैन, बौद्ध और वैदिक विशिष्ट विद्वान् दृष्टिसमक्ष उपस्थित हुए। मेरे अध्ययन एवं चिन्तन के परिणाम-स्वरूप उनमे से प्रत्येक की विशिष्टता तथा असाधारणता मुझे प्रतीत होती थी, और इस समय भी होती है। तार्किक मल्लवादी और उनके व्याख्याकार सिंहगणी क्षमा-श्रमण इन दोनो की कृतियाँ दर्शन और तर्क-परम्परा मे अनेक अज्ञात मुद्दो पर प्रकाश डालने मे समर्थ है। श्री जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण महाभाष्यकार के रूप मे प्रख्यात हैं। शून्यवादी महायानी शान्तिदेवसूरि अहिंसा-धर्म के मार्मिक पुरस्कर्ता के रूप मे विश्वविश्रुत है। कवि-वैयाकरण भट्टि भी अपना एक विशिष्ट स्थान रखते है और ये विद्वान् तो आचार्य हरिभद्र के पहले तथा वलभी एवं भड़ोंच के क्षेत्र की मर्यादा मे विचरण करते थे, यह सुविदित है।

आचार्य हरिभद्र के उत्तरवर्ती अनेक विशिष्ट विद्वानो मे से यहा तो दो-चार के नाम का ही निर्देश पर्याप्त होगा . वादी देवसूरि, आचार्य हेमचन्द्र, प्रसिद्ध टीका-कार मलयगिरि और अन्त मे न्यायाचार्य यशोविजयजी। इनमे से किसे पसन्द करना इस विचार ने थोडी देर के लिये मुझे उलझन में डाला तो सही, पर अन्त मे आचार्य हरिभद्र ने मेरे मन पर अधिकार जमाया। मैने उनके विषय मे भाषण तैयार करने का निश्चय किया तब मेरे मन मे उनकी जो विशिष्टता रममाण थी उसके खास कारण है। उनमे से दो-एक का निर्देश करना उचित होगा।

आचार्य हरिभद्र की विशेषता

आचार्य हरिभद्र ने प्राकृत-संस्कृत भाषा मे अनेक विषयों पर अनेक ग्रन्थ लिखे हैं, तो उस कोटि की विद्वत्ता तो आचार्य हेमचन्द्र तथा न्यायाचार्य यशोविजयजी मे भी है। यह सब होने पर भी आचार्य हरिभद्र की विशेषता केवल गुजरात मे ही

तैयार हो जाय। इस उपचार मे न पडकर मेरे हृदय मे उनका जो स्थान एवं मान अंकित है उसका संकेत करके मै सन्तोष मानता हूँ।

परन्तु संकेतमात्र से सन्तोष मानने के बाद भी चारेक नामों का यहाँ निर्देश करना मुझे अनिवार्य लगता है। कवि-प्राध्यापक श्री उमाशंकर जोशी तथा प्राध्यापक डॉ० श्री मनसुखलाल झवेरी इन दोनो का हार्दिक आग्रह इतना अधिक था कि मैं बम्बई विश्वविद्यालय का निमंत्रण स्वीकार करने के लिए उत्सुक हुआ। श्री भो. जे. विद्याभवन के डाइरेक्टर और मेरे सदा के विद्यासखा श्रीयुत रसिकभाई छो परीख और श्री लालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृति विद्यामन्दिर के डाइरेक्टर पं. श्री दलसुखभाई मालवणिया इन दोनो ने मेरे व्याख्यान सुनकर आवश्यक सूचनाएँ की हैं। मै इन चारो विद्वानो का विशेष रूप से कृतज्ञ हूँ।

सरित्कुंज, आश्रम रोड,
अहमदाबाद-९.
ता० ३० जून, १९६१

सुखलाल संघवी

व्याख्यान पहला

आचार्य हरिभद्र के जीवन की रूपरेखा

वम्बई विश्वविद्यालय के संचालको ने मुझे 'ठक्कुर वसनजी माधवजी व्याख्यान-माला' मे व्याख्यान देने के लिए आमन्त्रित किया। इस आमंत्रण के लिए आभार मानना या इसे भार रूप समझना, ऐसी एक मिश्र अनुभूति मेरे मन मे उत्पन्न हुई। मैं चिन्तन-मनन एवं लेखन के भार से यथाशक्य दूर रहना चाहता था, तब उसी काम के उत्तरदायित्व का स्वीकार करने मे भार का अनुभव होना स्वाभाविक है, परन्तु विश्वविद्यालय जैसी सस्था के आमत्रण ने, मित्रो के सहृदय अनुरोध ने और ऐसे विषय के परिशीलन के लम्बे समय से मन मे पडे हुए संस्कारो ने मेरा वह भार एक तरह से हल्का किया और मै पुन. चिन्तन-मनन-लेखनकी आनन्द-पर्यवसायी प्रवृत्ति मे लग गया। ऐसा होते ही आरम्भ मे प्रतीत होने वाला वह भार आ-भार अर्थात् ईषद्-भार मे पर्यवसित हो गया। यही है मेरा आभार-निवेदन।

प्रस्तुत व्याख्यानमाला मे कई ऐसे धुरन्धर विद्वान् व्याख्यान दे गये है कि उनके नाम एवं कार्य को देखते हुए मेरा मन उनकी पक्ति मे बैठने के लिए तैयार नही होता था, परन्तु जब व्याख्यानमाला के सचालको ने उस पक्ति मे मुझे रख ही दिया तब मै एक प्रकार से गौरव का अनुभव करता हूँ, जिसमे वस्तुत देखा जाय तो लाघववृत्ति ही मुख्य रूप से रही हुई है। आज तक के व्याख्यानो के विपयो की ओर दृष्टि डालने पर मुझे तो ऐसा भी लगता है कि मै उन पूर्व सूरियो के पथ से कुछ विलग-सा जा रहा हूँ।

बहुश्रुत, इतिहासकोविद और ब्राह्मणवृत्ति के श्री दुर्गाशंकर भाई के 'भारतीय संस्कारोनु गुजरातमा अवतरण' विषय पर दिये गये उदात्त पाँच व्याख्यान सुन रहा था, तभी मनमे विचार आया कि क्या गुजरात ने भारतीय संस्कारो का मात्र अपने मे अवतरण ही होने दिया है या उस अवतरण को आत्मसात् करके और उसे पचा कर अपनी विशिष्ट प्रतिभा एवं परम्परा के बल पर उस अवतरण को कोई अपूर्व कहा जा सके ऐसा आकार भी दिया है जो भारतीय संस्कारो मे मनोरम एवं अभिनव भी हो ? इस विचार से जब मै मेरे परिशीलन का प्रत्यवेक्षण अथवा पुनरावलोकन करने

नही, परन्तु, मै जानता हू वहाँ तक, सभी परम्पराओं के भारतीय पण्डितो मे निराली और विरल है। वह विशेषता है साम्प्रदायिक अनेक विषयो के पाण्डित्य के अलावा अपनी कृतियो के द्वारा प्रकट होने वाली उनकी मानसिक एवं आध्यात्मिक ऊर्ध्वगामी वृत्ति।

उनकी यह वृत्ति किस-किस कृति में किस-किस रूप मे आविर्भूत हुई है यह दिखलाने के लिए मैने उनकी दर्शनविषयक शास्त्रवार्तासमुच्चय और षड्दर्शनसमुच्चय इन दो ही कृतियो को तथा योगविषयक उनकी ज्ञात एवं लभ्य चारो कृतियो—योगविंशिका, योगशतक, योगबिन्दु और योगदृष्टिसमुच्चय—को लेकर अपना वक्तव्य तैयार किया है। यहाँ विशेष रूप मे उसके समर्थन मे कुछ कहने की आवश्यकता नही है, यहाँ तो अधिकारी जिज्ञासु एवं उदार पाठको के समक्ष इतना ही निवेदन पर्याप्त होगा कि वे तीसरे और चौथे-पाँचवे व्याख्यानो मे उन ग्रन्थो के बारे मे जो संक्षेप मे कहा है उसका स्वस्थ चित्त से वाचन एवं मनन करे।

मै केवल पाण्डित्य की दृष्टि से आचार्य हरिभद्र पर विचार करने के लिए प्रवृत्त नही हुआ। यह तो उनके अनेक विषयों के अनेक ग्रन्थ लेकर दिखलाया जा सकता है। पाण्डित्य, विद्याव्यासंग तथा बहुश्रुतत्व—यह सब उपयोगी है ही, फिर भी जीवन मे इनमे भी उच्चतर स्थान निष्पक्ष दृष्टि का, स्व-पर पन्थ या सम्प्रदाय का भेद बिना रखे प्रत्येक मे से गुण ग्रहण करने की वृत्ति का तथा इतर सम्प्रदायो के विशिष्ट विद्वानो और साधको के प्रति भी समझदार चिन्तको का ध्यान सबहुमान आकर्षित हो वैसी निरूपणशैली का है। आचार्य हरिभद्र मे ये विशेषताएँ जितनी मात्रा मे और जितनी स्पष्टता से दृष्टिगोचर होती है उतनी मात्रा मे और उतनी स्पष्टता से दूसरे किसी भारतीय विद्वान् मे प्रकट हुई हो तो वह एक शोध का विषय है।

आचार्य हरिभद्र ने समन्वय की तीन कक्षाएँ सिद्ध की है। अनेकान्तवाद की व्यापक प्रभा से विकसित नयवाद में जो समन्वय का प्रकार है उसका पल्लवन तो आचार्य हरिभद्र से पहले भी जैन-परम्परा में हुआ है। अत वह प्रकार तो सहजभाव से उनके ग्रन्थो मे आता ही है। परन्तु इतर दो प्रकार, जिनका पल्लवन-पोषण उन्होने किया है, वह तो केवल उनकी अपनी ही विशेषता है। उनमे से पहला प्रकार यह है कि परस्पर विरोधी दर्शन-परम्पराओं में दर्शन अथवा आचार के बारे मे मात्र उस-उस परम्परा को ही मान्य जो रूढ परिभाषाएँ प्रचलित हैं-जैसे कि ईश्वरकर्तृत्ववाद, प्रकृतिवाद, अद्वैत, विज्ञान, शून्य जैसी परिभाषाएँ-उनको आचार्य हरिभद्र ने उदात्त और

व्यापक अर्थ प्रदान किया है एवं ये परिभाषाएँ स्वयं उन्हे किस प्रकार अभिप्रेत है यह भी दिखलाया है। दूसरा प्रकार उनके इस प्रयत्न मे है कि अर्थ एक होने पर भी भिन्न-भिन्न परम्पराओ मे उसके लिए जो भिन्न-भिन्न परिभाषाएँ स्थिर हुई हैं—जैसे कि अविद्या, मोह, दर्शनमोह तथा ब्रह्म, निर्वाण इत्यादि—वे परिभाषाएँ किस प्रकार एक ही अर्थ की सूचक है, यह दिखलाना।

यह और इसके समान दूसरी बहुत-कुछ जानने योग्य सामग्री प्रस्तुत व्याख्यानों मे से पाठको को प्राप्त होगी। यदि आजके विकसनशील दृष्टिबिन्दु को नजर के सामने रखकर कोई आचार्य हरिभद्र के उपर्युक्त ग्रन्थो का सागोपाग अध्ययन करेगा तो उसका अध्ययन विद्या के क्षेत्र मे एक बहुमूल्य योगदान समझा जायगा।

आचार्य हरिभद्र के व्यक्तित्व का निर्माण मुख्यत. चार—कथाकार, तत्त्वज्ञ, आचारशोधक एवं योगी के रूपो मे हुआ है। उनका सुप्रसिद्ध प्राकृत कथाग्रन्थ समराइच्चकहा है, जिस पर डॉ० हर्मन जेकोबी ने काफी लिखा है और विद्वानो का ध्यान आकर्पित किया है। तत्त्वज्ञ अर्थात् तार्किक-दार्शनिक के रूप मे उनके संस्कृत मे लिखे गये अनेकान्तजयपताका और प्राकृत मे लिखे गये धर्मसग्रहणी जैसे ग्रन्थ मुख्य है। आचार-संशोधक के रूप मे उनके माने जानेवाले सम्बोधप्रकरण मे उन्होने मार्मिक समालोचना करके यह दिखलाया है कि सच्चा साध्वाचार कौनसा है। योगाभ्यासी के रूप मे उन्होने योगबिन्दु आदि चार ग्रन्थ लिखे है, जो योग-परम्परा के साहित्य मे अनेक दृष्टि से विरल कहे जा सकते है।

आभार निवेदन

बम्बई विश्वविद्यालय की ओर से ठक्कर वसनजी माधवजी व्याख्यानमाला के व्यवस्थापको ने मुझे निमन्त्रित न किया होता तो उक्त विश्वविद्यालय के हॉल मे अनेक अधिकारी श्रोताओ के समक्ष मेरे विचार प्रदर्शित करने का अवसर मुझे प्राप्त न होता, और मेरे अपने जीवन मे असम्भाव्य ऐसी धन्यता के अनुभव का अवसर उपलब्ध न होता, तथा ये भाषण इस रूप में ग्रन्थाकार प्रकट करने का प्रसंग भी न आता। इसके लिए मै इस व्याख्यानमाला के व्यवस्थापको एवं बम्बई विश्वविद्यालय के संचालको का आभार मानता हूं।

इन व्याख्यानो को तैयार करते समय वाचन से लेकर लिखने तक और उसके पश्चात् उनके मुद्रण तक मुझको मेरे जिन अनेक सहृदय विद्याप्रिय मित्रो की ओर से जो-जो सहायता मिली है उन सबके नाम का उल्लेख करूँ तो एक खासी लम्बी सूचि

के लिए प्रेरित हुआ तब मेरे मानस-पट पर गुजरात मे होने वाली शान्तिदेव, भट्टि, क्षमाश्रमण सिंहगणी और जिनभद्रगणी, हरिभद्र, आचार्य हेमचन्द्र और वाचक यशोविजयजी जैसी कई विभूतियो के चित्र अंकित हुए, परन्तु आज तो मैंने उन विभूतियो मे से एक को ही पसन्द किया है। वह विभूति अर्थात् याकिनीसूनु आचार्य हरिभद्र।

प्राचीन गुजरात ने [1]जिसे पाला-पोसा और विविध क्षेत्रो मे चिन्तन-लेखन की सुविधा दी ऐसी यह विभूति गत डेढ-सौ वर्ष पहले तो सिर्फ जैन-परम्परा मे ही प्रसिद्ध थी। मै जानता हूँ वहा तक उस काल मे जैन-परम्परा के अतिरिक्त कोई दूसरा आचार्य हरिभद्र को जानता हो तो वह 'ललितासहस्रनाम'[2] नामक ग्रन्थ के भाष्यकार भास्करराय ही थे। भास्करराय [3] मूल मे कर्णाटकवासी थे वह काशी मे आकर रहते थे। उन्होने गुजरात के सूरत शहर के निवासी प्रकाशानन्द नाम के उपासना-मार्ग के आचार्य के पास पूर्वाभिषेक-दीक्षा ली थी। भास्करराय विक्रम की अठारहवी शती मे हुए है। उन्होने अपने उस 'सौभाग्य-भास्कर' नाम के भाष्यके—

'प्रभावती प्रभारूपा प्रसिद्धा परमेश्वरी।
मूलप्रकृतिरव्यक्ता व्यक्ताव्यक्त स्वरूपिणी॥ १३७॥'

इस श्लोक की व्याख्या करते समय आचार्य हरिभद्र ने 'धर्मसंग्रहणी' नामक प्राकृत ग्रथ की एक गाथा प्रमाण के रूप मे उद्धृत की है।[4] आश्चर्य की बात तो यह है कि श्वेताम्बर से अतिरिक्त दूसरी जैन-शाखाएँ भी हरिभद्र जैसे प्रतिभा सम्पन्न विद्वान् की कृतियो के विषय मे सर्वथा मौन दिखाई पडती हैं, तब एक कर्णाटक-निवासी और काशीवासी प्रकाण्ड पण्डित भास्करराय का ध्यान हरिभद्र के एक ग्रन्थ की ओर जाता है और वह मूल ग्रन्थ भी संस्कृत नही, किन्तु प्राकृत। ऐसे प्राकृत ग्रन्थ की ओर एक दूरवर्ती विद्वान् का ध्यान जाय और वह भी एक दार्शनिक मुद्दे के बारे मे, तब ऐसा मानना चाहिए कि आचार्य हरिभद्र दूसरी तरह से भले अज्ञात जैसे रहे हों,

---

१ श्री रसिकलाल छो० 'परीख' 'गुजरातनी राजधानीओ पृ० ३६—"उत्तर-पूर्व मे आबू और आडावला अथवा अरवल्ली के बाहरी पर्वत, पूर्व मे विन्ध्यादि की उपत्यकाए एवं अरण्य तथा दक्षिण मे सतपुडा की मुख्य पर्वतमाला के उत्तरीय गिरि-अकुर। इसका स्थानों से निर्देश करूँ तो उत्तर मे भिन्नमाल अथवा श्रीमाल, दक्षिण मे सोपारा (जहा वस्तुपाल के 'कीर्तन' अर्थात् देवमन्दिर थे), पूर्व मे दाहोद या रतलाम, पश्चिम मे कच्छभुज-सौराष्ट्र।"

इस पुस्तक के आरम्भ मे गुजरात का मानचित्र भी है।

२ [illegible] निर्णयसागर प्रेस, १९३५ ईसवीय।

परन्तु उनकी कृतियो एव उनके विचारो मे बहुश्रुत विद्वानो को आकर्पित करने जितना सामर्थ्य तो है ही।

लगभग डेढ़-सौ वर्प पहले पाश्चात्य संशोधक विद्वानो का ध्यान पुरातत्त्व, साहित्य आदि ज्ञान-साधनो से समृद्ध पौरस्त्य भण्डारो की ओर अभिमुख हुआ और प्रो. किल्हॉर्न, व्हयुलर, पिटर्सन, जेकोबी जैसे विद्वानो ने जैन भण्डार देखे[५] और उनकी समृद्धि का मूल्याकन करने का प्रयत्न किया। इसके परिणाम-स्वरूप भारत में तथा भारत के बाहर ज्ञान की एक नई दिशा खुली। इस दिशोद्घाटन के फलस्वरूप आचार्य हरिभद्र, जो कि अब तक मात्र एक परम्परा के विद्वान् और उसी में अवगत थे, सर्व विदित हुए। जेकोबी, लॉयमान, विन्तर्नित्स, सुवाली और शुब्रिंग आदि अनेक विद्वानों ने भिन्न-भिन्न प्रसंगो पर आचार्य हरिभद्र के ग्रन्थ एवं जीवन के विपय मे चर्चा की है। जेकोवी, लॉयमान, शुब्रिंग और सुवाली आदि विद्वानो ने तो हरिभद्र के भिन्न-भिन्न ग्रंथो का सम्पादन ही नही, वल्कि उनमें से किसी का तो अनुवाद या सार भी दिया है।[६] इस प्रकार हरिभद्र जर्मन, अग्रेजी आदि पाश्चात्य भापाओ के ज्ञाता विद्वानो के लक्ष्य पर एक विशिप्ट विद्वान् के रूप से उपस्थित हुए। दूसरी ओर पाश्चात्य संशोधन दृप्टि के जो आन्दोलन भारत मे उत्पन्न हुए उनकी वजह से भी हरिभद्र अधिक प्रकाश मे आये। उन्नीसवी शती के चतुर्थ चरण मे गुजरात के साक्षर-शिरोमणि श्री मणिलाल नभूभाई का ध्यान आचार्य हरिभद्र के ग्रन्थों की ओर आकर्षित हुआ। इस पुरुषार्थी विद्वान् ने हरिभद्र के जो ग्रन्थ हाथ मे आये और जो उनकी मर्यादा थी तदनुसार उनमे से खास-खास ग्रन्थों के गुजराती अनुवाद भी प्रस्तुत किये।[७] इस तरह देखते है तो नव-युग के प्रभाव से आचार्य हरिभद्र ने किसी एक धर्म-परम्परा के विद्वान् न रहकर साहित्य के अनन्य विद्वान् और उपासक के रूप मे विद्वन्मण्डल मे स्थान प्राप्त किया।

---

५ प्रो० किल्हॉर्न (१८६९–७०), व्हयुलर (१८७०–७१) पिटर्सन (१८८२ से–) इन सव के हस्तलिखित पोथियो की शोध के उल्लिखित वर्पो की रिपोर्ट देखिये। डॉ० हर्मन जेकोवी ने, जब वह सन् १९१४ मे भारत आये थे तब, जैन भण्डारो का निरीक्षण किया था।

६ डॉ० हर्मन जेकोवी ने 'समराइच्चकहा' का सम्पादन किया है तथा उसका अग्रेजी मे सार भी दिया है। प्रो० सुवाली ने 'योगदृप्टिसमुच्चय', 'योगविन्दु', लोकतत्त्वनिर्णय, एव 'पड्दर्शनसमुच्चय' का सम्पादन किया है, और 'लोकतत्त्वनिर्णय' का इटालियन मे अनुवाद भी किया है।

७ (१) षड्दर्शनसमुच्चय, (२) योगविन्दु, (३) अनेकान्तवादप्रवेश।–'मणिलाल नभूभाई साहित्य साधना' पृ० ३३६।

आचार्य हरिभद्र के साहित्य मे जिसने जितने परिमाण में अवगाहन किया वह उतने ही परिमाण मे उनकी विद्वत्ता और तटस्थता के प्रति आकर्पित हुआ, और ईसा की बीसवी शताव्दी के प्रारंभ से तो हरिभद्र की ख्याति उत्तरोत्तर वढती ही गई है। उनकी कृतियो का अवलोकन और सम्पादन करने का आकर्षण विद्वानो मे वढता गया है।

डॉ आनन्दशंकर बी ध्रुवने १६०६ मे 'गुजरातनु संस्कृत साहित्य, ए विपयनु थोडुंक रेखादर्शन' नाम का एक निवन्ध तीसरी गुजराती साहित्य परिषद् मे पढा था और १९४७ मे श्री दुर्गाशंकर भाई ने 'भारतीय संस्कारोनु गुजरातमा अवतरण' इस शीर्षक के नीचे पांच व्याख्यान दिये थे। इन दोनो वहुश्रुत एवं उदारचेता विद्वानो के निबन्धो मे वलभी के भट्टि, भिन्नमाल के व्रह्मगुप्त और माघ आदि का निर्देश है। जिन भट्टि, व्रह्मगुप्त और माघ जैसे विद्वानो की आज तक एक-एक कृति ही उपलव्ध एव विख्यात है उनका तो निर्देश हो और उसी प्राचीन गुजरात की सुप्रसिद्ध राजधानी भिन्नमाल एवं उसके आसपास के प्रदेश मे रह कर जिन्होने अनेक कृतियाँ रची हो तथा जो आज भी उपलव्ध हो उनका निर्देश तक उन निबन्धो मे न हो, यह देखकर किसी को सहजभाव से प्रश्न हो सकता है कि वैसे विशिष्ट विद्वान् का परिचय कराना कैसे रह गया होगा ? परन्तु मुझे लगता है कि आचार्य हरिभद्र की दर्शन एवं योग-परम्परा विषयक विशिष्ट कृतिया इन दोनो महारथियो के अवलोकन मे यदि आई होती, तो उनका उनकी ओर सविशेष ध्यान गये विना न रहता। शायद ऐसा भी सम्भव है कि उनकी दृष्टि मे हरिभद्र गुजरात की सीमा मे न भी आते हो।

परन्तु गुजरात के बहुश्रुत और सुविद्वान् श्री रसिकलाल छो० परीख ने काव्यानुशासन के दूसरे भाग की अपनी सुविस्तृत और सुसम्बद्ध प्रस्तावना मे थोडे से शव्दो मे भी आचार्य हरिभद्र का जो मूल्याकन किया है वह खास ध्यान खीचे ऐसा है।[८]

अब तो हरिभद्र के ग्रन्थों को विश्वविद्यालयो के पाठ्यक्रम मे भी स्थान मिला है। खास करके उन्होने दर्शन एव योग-विषयक जिन उदात्त ग्रन्थो की रचना की है

---

८ "It (Bhinnamala) was also one of the centres of literary activity of Haribhadrasuri, the author of many important works on Jaina Philosophy and also of a general work on the schools of Indian Philosophy known as Shaddarshanasamuchchaya He also composed Samaradityakatha, a novel whose hero is Samaraditya"

—काव्यानुशासन भा २, प्रस्तावना पृ० ६७

उनकी ओर विद्वान् उत्तरोत्तर अधिकाधिक आकर्षित होते जा रहे है। ऐसी स्थिति मे मुझे विचार आया कि हरिभद्र के दर्शन एवं योग-विषयक ग्रन्थो मे ऐसी कौन-कौनसी विशेषताएँ है जिनकी ओर अभ्यासियो का लक्ष्य विशेष जाना चाहिए ? इस विचार से मैने इस व्याख्यानमाला मे आचार्य हरिभद्र के विषय मे विचार करना पसन्द किया है और वह भी उनकी कतिपय विशिष्ट कृतियो को लेकर। वे कृतियाँ भी ऐसी होनी चाहिए जो समग्र भारतीय दर्शन एवं योग-परम्परा के साथ संकलित हो। जिन कृतियो को लेकर मै इन व्याख्यानो मे चर्चा करना चाहता हू उनकी असाधारणता क्या है, यह तो आगे की चर्चा से स्पष्ट हो जायगा।

मैने पाँचो व्याख्यान नीचे के क्रम मे देने का सोचा है—

(१) पहले मे आचार्य हरिभद्र के जीवन की रूपरेखा।

(२) दूसरे मे दर्शन एवं योग के सम्भावित उद्भवस्थान, उनका प्रसार, गुजरात के साथ उनका सम्बन्ध और उनके विकास मे आचार्य हरिभद्र का स्थान।

(३) तीसरे मे दार्शनिक परम्परा मे आचार्य हरिभद्र के नवीन प्रदान पर विचार।

(४–५) चौथे और पाँचवे मे योग-परम्परा मे आचार्य हरिभद्र के अर्पण का सविस्तार निरूपण।

आचार्य हरिभद्र के जीवन एवं कार्य का सूचक तथा उनका वर्णन करने वाला साहित्य लगभग उनके समय से ही लिखा जाता रहा है और उसमे उत्तरोत्तर अभिवृद्धि भी होती रही है। प्राकृत, सस्कृत, गुजराती, हिन्दी, जर्मन और अग्रेजी आदि भाषाओ मे अनेक विद्वान् और लेखको ने उनके जीवन एव कार्य की चर्चा विस्तार से की है। वैसे साहित्य की एक सूचि अन्त मे एक परिशिष्ट के रूप मे देनी योग्य होगी।[६] यहाँ तो इस साहित्य के आधार पर प्रस्तुत प्रसंग के साथ खास आवश्यक प्रतीत होनेवाली बातो के विषय मे ही चर्चा की जायगी। विशेष जिज्ञासु परिशिष्ट मे उल्लिखित ग्रन्थ आदि को देखकर अधिक आकलन कर सकते है।

जन्म-स्थान

आचार्य हरिभद्र के जीवन के विषय मे जानकारी देने वाले ग्रन्थो मे सबसे अधिक प्राचीन समझा जानेवाला ग्रन्थ भद्रेश्वर की, अबतक अमुद्रित, 'कहावली' नाम की प्राकृत कृति है। इसका रचना-समय निश्चित नही है, परन्तु इतिहासज्ञ विचारक

---

६ देखो पुस्तक के अन्त मे परिशिष्ट १

इसे विक्रम की वारहवी शती के आसपास रखते हैं। इसमे आचार्य हरिभद्र के जन्म-स्थान का नाम 'पिवंगुई वंभपुणी'[10] ऐसा पढा जाता है, जब कि इतर ग्रन्थो में उनका जन्मस्थान चित्तौड-चित्रकूट[11] कहा गया है। ये दोनो निर्देश भिन्न होने पर भी वस्तुत. इसमें खास विरोध जैसा ज्ञात नही होता है। 'पिवंगुई' ऐसा मूल नाम शुद्ध रूप मे उल्लिखित हो, या फिर कुछ विकृत रूप मे प्राप्त हुआ हो यह कहना कठिन है, परन्तु, उसके साथ जो 'वंभपुणी' का उल्लेख है वह 'ब्रह्मपुरी' का ही विकृत रूप है। इस तरह यह ब्रह्मपुरी कोई छोटा देहात हो, कस्बा हो या किसी नगर-नगरी का एक भाग हो, तो भी वह चित्तौड के आसपास ही होगा। इसीलिए उत्तरकालीन ग्रन्थो मे अधिक प्रख्यात चित्तौड का निर्देश तो रह गया, किन्तु ब्रह्मपुरी गौण वन गई या फिर ख्याल मे ही न रही।

चित्तौडगढ की प्रतिष्टा से पहले उससे उत्तर मे लगभग ५-६ मील की दूरी पर आई हुई शिवि जनपद की राजधानी 'मध्यमिका' नगरी विख्यात थी। यह अब भी 'नगरी' के नाम से पहचानी जाती है। यह नगरी बहुत प्राचीन है तथा सत्ता, विद्या एवं धर्मो का केन्द्र रही है।[12] इसीलिए इस पर यदा-कदा आक्रमण होते रहे है। इसका सर्व-प्रथम उल्लेख महाभाष्यकार पतंजलि (ईसा-पूर्व दूसरी शतीने) अपने भाष्य मे किया है।[13] मध्यमिका वैदिक परम्परा का केन्द्र तो थी ही, परन्तु भागवत परम्परा का तो वह विशिष्ट केन्द्र थी तथा बौद्ध एवं जैन परम्पराओ का[14] भी वह एक विशिष्ट क्षेत्र जैसी थी। उत्तरोत्तर आक्रमणो के कारण जब यह स्थान

---

१० "पिवगुईए वभपुणीए" — पाटन, सघवी के पाडे के जैन भण्डार की वि० स० १४९७ मे लिखित ताड़पत्रीय पोथी, खण्ड २, पत्र ३००।

११ अधोलिखित प्राचीन ग्रन्थो मे जन्मस्थान के रूप मे चित्तौड़—चित्रकूटका उल्लेख मिलता है —

(क) हरिभद्रसूरिकृत 'उपदेशपद' की श्री मुनिचन्द्रसूरिकृत टीका। (वि०स० ११७४)
(ख) "गणधरसार्धशतक' की सुमतिगणिकृत वृत्ति। (वि० स० १२९५)
(ग) प्रभाचन्द्रसूरिकृत 'प्रभावकचरित्र' नवम शृग। (वि० स० १३३४)
(घ) राजशेखरसूरिकृत 'प्रबन्धकोष' अपर नाम 'चतुर्विशतिप्रबन्ध'। (वि० स० १४०५)

१२ देखो 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' वर्ष ६२, अक २-३ मे प्रकाशित डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल का लेख 'राजस्थान मे भागवत धर्म का प्राचीन केन्द्र' पृ० ११६-२१।

१३ "अरुणद् यवनो मध्यमिकाम्।" ३ २. १११

१४ देखो 'कल्पसूत्र-स्थविरावली'; उसमे मज्झिमिआ शाखाका उल्लेख है। वह मध्यमिका नगरी के आधार पर उस नाम से प्रसिद्ध हुई।

सुरक्षित न रहा, तब चित्रागद नामक एक मौर्य ने मध्यमिका मे से चित्तौड मे राजधानी बदली ।[१५] पहाड पर होने के कारण वह अधिक सुरक्षित स्थान था । मध्यमिका के प्राचीन अवशेष अब भी मिलते है । ऐसा प्रतीत होता है कि मध्यमिका मे से चित्तौड पर राजधानी का परिवर्तन होते ही चित्तौड़ का सब तरह से विकास हुआ होगा और विद्या एवं धर्म की जो परम्पराएँ मध्यमिका मे थी उन्होने भी चित्तौड के विकास का लाभ लिया होगा । यह चाहे जो हो, परन्तु ऐसा तो लगता है कि हरिभद्र का जन्म-स्थान मूल चित्तौड न हो, तो भी चित्तौड अथवा मध्यमिका मे से किसी एक के साथ उसका अधिक सम्बन्ध होना चाहिए । 'ब्रह्मपुरी' सकेत यथार्थ हो तो ऐसा भी कहा जा सकता है कि वह चित्तौड अथवा मध्यमिका जैसी नगरी का ब्राह्मणो की प्रधानता वाला कोई उपनगर या मुहल्ला भी हो । इस प्रकार जन्म-स्थान का विचार करने पर हरिभद्र प्राचीन गुजरात के प्रदेश से बहुत दूर के नही है ।

माता-पिता

हरिभद्र के माता-पिता का नाम केवल 'कहावली' मे ही उपलब्ध होता है । उसमे माता का नाम गंगा और पिता का नाम शकर भट्ट कहा गया है ।[१६] भट्ट शब्द ही सूचित करता है कि वह जाति से ब्राह्मण थे । 'गणधर-सार्धशतक' की सुमतिगणिकृत वृत्ति (रचना सं. १२९५) मे तो हरिभद्र का ब्राह्मण के रूप मे स्पष्ट निर्देश ही है,[१७] जब कि प्रभावक-चरित्र मे उन्हे राजा का पुरोहित कहा है ।[१८] मतलब कि वह जन्म से ब्राह्मण थे। यदि ब्रह्मपुरी के नाम की उपर्युक्त कल्पना सच हो, तो हरिभद्र के ब्राह्मण होने की कल्पना को उससे और भी पुष्टि मिलती है। प्राचीनकाल से

---

१५ चित्रकूट की स्थापना चित्रागद ने की थी ऐसी कथा 'कुमारपालचरित्रसग्रह' मे पृ० ५ और पृ० ४७-९ पर आती है। यह चित्रागद मौर्य वश का था ऐसा नीचे के आधारों से निश्चित किया जा सकता है —

श्री हीरानद शास्त्री 'A Guide to Elephanta'—This would show that Mewar and the surrounding tracts were held by a Maurya dynasty during the eighth century after Christ" पृ० ७

'ख्यातो' मे भी चित्रागद का मौर्य के रूप मे निर्देश मिलता है ।

१६ "सकरो नाम भटो, तस्स गगा नाम भट्टिणी । तीसे हरिभद्दो नाम पण्डिओ पुत्तो ।" ३००

१७ एव सो पडित्तगव्वमुव्वहमाणो हरिभद्दो नाम माहणो ।"—धर्मसग्रहणी की प्रस्तावना मे उद्धृत, पृ० ५ अ

१८ शृङ्ग ९, हरिभद्रसूरीचरित्र, श्लोक ८ "अतितरलमति पुरोहितोऽभून्नृपविदितो हरिभद्रनामवित्त. ।"

ऐसी प्रथा चली आती है कि किसी भी एक जाति के लोग एक ही मुहल्ले-टोले मे रहते है, इसी कारण वैशाली के माहणकुण्ड, खत्तियकुण्ड, वाणिजगाम जैसे उपनगर या टोले प्रसिद्ध है, और जहा, 'वाह्मण-ग्राम' का उल्लेख आता है वहा विद्वान् उसके वारे मे ऐसा खुलासा करते आये है कि उम गाव मे व्राह्मणो का प्राधान्य होता है तथा दूसरे वर्णो के लोग गौण रूप से रहते है। आज भी उदयपुर, जोधपुर, जयपुर जैसे शहरो मे व्राह्मणो के मुहल्ले 'व्रह्मपुरी' के नाम से पहचाने जाते है।[१९]

समय

हरिभद्र के समय का प्रश्न विवादास्पद था। प्राचीन उल्लेखो के अनुसार ऐसा माना जाता था कि हरिभद्र वीर सवत् १०५५ अर्थात् वि. सं ५८५ मे स्वर्गवासी हुए, परन्तु इस वारे मे अन्तिम निर्णय आचार्य श्री जिनविजयजी ने अपने तद्विपयक निवन्ध मे कर डाला है।[२०] यह निर्णय प्रत्येक ऐतिहासिक ने मान्य रखा है। तदनुसार हरिभद्र का जीवन-काल प्राय वि. सं. ७५७ से ८२७ तक का आँका जाता है। इस निर्णय पर आने के अनेक प्रमाणो मे से एक खास उल्लेखनीय प्रमाण उद्योतन-सूरि उपनाम दाक्षिण्य-चिह्नकृत कुवलयमाला की प्रशस्ति-गाथाएँ है। दाक्षिण्यचिह्न ने अपनी कुवलयमाला की समाप्ति का समय एक दिवस न्यून शक-संवत् ७०० अर्थात् शक-सवत् ७०० की चैत्र कृष्णा चतुर्दशी लिखा है और उन्होने अपने प्रमाण-न्यायशास्त्र के विद्या-गुरु के रूप मे हरिभद्र का निर्देश किया है।[२१] इस समय के साथ पूरी तरह से मेल खानेवाले अनेक ग्रन्थ एव ग्रन्थकारो के उल्लेख

---

१९ वास्तुग्रन्थो मे वर्णन के आधार पर नगर मे मुहल्ले टोलो के निर्माण का वर्णन आया है, जैसे कि—

प्राग्विप्रास्त्वथ दक्षिणे नृपतय शूद्रा कुवेराश्रिता ।
कर्तव्या पुरमध्यतोऽपि वणिजो वैश्या विचित्रैर्गृहै ॥

—मण्डनसूत्रधारकृत वास्तुराजवल्लभ, ४ १८

इसके अतिरिक्त देखो 'वास्तुविद्या' अध्याय २, २६, ३२।

२०. देखो 'जैन साहित्य सशोधक' वर्प १, अक १। यह निवन्ध सन् १९१९ मे अखिल भारतीय प्राच्यविद्या परिपद् में आचार्य श्री जिनविजयजी ने पढा था।

२१ जो इच्छइ भवविरह भवविरह कोण वदए सुयणो।
समय-सय-सत्थ-गुरुणो समरमियका कहा जस्स ॥

—कुवलयमाला पृ० ४, प० २

सो सिद्धन्तेण गुरु जुत्ती-सत्थेहि जस्स हरिभद्दो।
वहु-सत्थ-गथ-वित्थर-पत्थारिय-पयड-सव्वत्थो ॥

—कुवलयमाला पृ० २८२, प० १८

हरिभद्र के विविध ग्रन्थो मे मिलते है,[२२] और इससे हरिभद्र का उपरिनिर्दिष्ट सत्ता-समय निर्विवाद सिद्ध होता है।

प्रो. के. वी अभ्यंकर ने विशतिविशिका नामक हरिभद्र के प्राकृत ग्रन्थ की प्रस्तावना मे उक्त निर्णय के विरुद्ध शंका उपस्थित की है, परन्तु यदि उन्होने प्रो. जेकोबी का स्पष्टीकरण ध्यान से देखा होता, तो वैसी शका उठाने का उनके लिए कोई कारण न रहता। उनकी शंका यह है कि शक-संवत् ७०० मे एक दिन कम यानी शक-संवत् ७०० के अन्तिम का अगला दिन। यह दिन चैत्र कृष्ण चतुर्दशी नही हो सकता, परन्तु फागुन कृष्ण चतुर्दशी हो सकता है, क्योकि फागुन कृष्ण अमावस्या के दिन वर्ष पूरा होता है। यह शंका उचित तो लगती है, लेकिन इसका स्पष्टीकरण प्रो. जेकोबी ने, जब उन्होने मुनि श्री जिनविजयजी का निर्णय मान्य रखा तब, अपने ढंग से बहुत पहले ही किया है।[२३] ऐसा होने पर भी हमे इस बारे मे विशेप ऊहापोह करना योग्य जँचा। इससे हमने प्राचीन एवं अर्वाचीन ज्योतिष के निष्णात प्राध्यापक श्री हरिहर भट्ट के समक्ष यह प्रश्न विशेष स्पष्टता के लिए रखा। उन्होने प्रो जेकोबी के खुलासे पर ध्यान से विचार किया और लभ्य सभी साधनो से जाँच पडताल की, तो उन्हे ऐसा लगा कि जैसा प्रो. जेकोबी मानते है उस तरह उस समय दो चैत्र नही, किन्तु दो वैशाख थे, फिर भी चैत्र कृष्ण चतुर्दशी का उल्लेख तो सत्य ही है।[२४]

---

२२ देखो 'जैन साहित्य सशोधक' वर्ष १, अक १, परिशिष्ट, पृ० ५३ से।

२३ 'समराइच्चकहा' की प्रस्तावना पृ० १–२।

२४ इस विषय मे उन्होने ब्यौरे से हमको जो पत्र लिखा था वह नीचे उद्धृत किया जाता है—

हरिहर प्रा० भट्ट २२, सरस्वती सोसाइटी,
सरखेज रोड, अहमदाबाद-७.
तारीख ४ – ८ – ५८

पूज्य श्री प० सुखलालजी,

हरिभद्रसूरि के काल-निर्णय के विषय मे उद्द्योतनसूरि द्वारा कुवलयमाला मे उल्लिखित एक वाक्य को गणित की दृष्टि से जांचने के लिए आपने मुझसे कहा था। उसके बारे मे मेरा मन्तव्य है कि—

१. उद्द्योतन के लिखने के अनुसार कुवलयमाला शक ७०० के अन्तिम से पहिले के दिन चैत्र कृष्णा चतुर्दशी को पूर्ण हुई थी। जेकोबी अपने 'Haribhadra's Age, Life and Works' शीर्षक वाले लेख के फुटनोट ५ मे कहते है कि शक ७०१ मे अधिक चैत्र था, परन्तु वस्तुत अधिक चैत्र नही, किन्तु अधिक वैशाख था। पिलै की Chronology मे तथा केशो लक्ष्मण छत्रे की अधिक मासिक की तालिका मे अधिक वैशाख दिया है। सूर्य-

श्री हरिहर भाई के ऊपर के स्पष्टीकरण से और जेकोबी एवं ऐतिहासिक विद्वान् पन्यास श्री कल्याणविजयजी आदि के निर्विवाद स्वीकार से हरिभद्र के समय के बारे में मुनि श्री जिनविजयजी का निर्णय अन्तिम है ऐसा मानकर ही हमें हरिभद्र के जीवन एवं कार्य के विषय में विचारना चाहिए।

विद्याभ्यास

हरिभद्र ने बचपन से विद्याभ्यास कहां और किस के पास किया इसका कोई निर्देश मिलता ही नहीं, परन्तु ऐसा लगता है कि जन्म से ब्राह्मण थे और ब्राह्मण परम्परा में यज्ञोपवीत के समय से ही विद्याभ्यास का प्रारम्भ एक मुख्य कर्तव्य समझा जाता है। उन्होंने वह प्रारम्भ अपने कुटुम्ब में ही किया हो या आसपास के किसी योग्य स्थान में, परन्तु इतना तो निश्चित प्रतीत होता है कि उन्होंने अपने विद्याभ्यास का आरम्भ प्राचीन ब्राह्मण परम्परा के अनुसार संस्कृत भाषा से किया होगा। उन्होंने किसी-न-किसी ब्राह्मण विद्या-गुरु अथवा विद्या-गुरुओं के पास व्याकरण, साहित्य, दर्शन और धर्मशास्त्र आदि संस्कृत-प्रधान विद्याओं का गहरा और पक्का परिशीलन किया होगा। सामान्यतः जैसा बनता आया है वैसा हरिभद्र के जीवन में भी बना। वह यह कि विविध विद्याओं एवं यौवन-सुलभ सामर्थ्य मद ने उन्हें अभिमानपूर्ण प्रतीत हो ऐसा एक संकल्प करने के लिये प्रेरित किया। उनका ऐसा संकल्प था कि जिसका कहा न समझूं मैं उसका शिष्य हो जाऊँगा। इस अभिमान-सूचक संकल्प ने उन्हें किसी दूसरी ही दिशा की ओर धकेल दिया।

सिद्धान्त एवं आर्य-सिद्धान्त के अनुसार मैंने गणित किया, तो उस रीति से भी अधिक वैशाख आता है। ब्रह्मसिद्धान्त का प्रचार उस काल में नहीं था। ब्रह्मसिद्धान्त के अनुसार भी अधिक वैशाख आता है। जेकोबी किस प्रकार अधिक चैत्र गिनते हैं, यह समझ में नहीं आता।

२ जेकोबी इस फुटनोट में किल्हॉर्न का एक वाक्य उद्धृत करते हैं। जेकोबी लिखते हैं कि 'Kielhorn has shown from dates in inscriptions that in connection with Saka years almost always *amanta* months are used' यहाँ किल्हॉर्न द्वारा प्रयुक्त almost शब्द सूचित करता है कि उसके देखने में कई ऐसे inscriptions भी आये होंगे, जिनमें पौर्णिमान्त महीने हों।

३ एक बात जिस पर जेकोबी का ध्यान नहीं गया वह यह है मेरे पास चालू वर्ष का काशी के पं० बापूदेव शास्त्री का पंचांग है। वह विक्रम संवत् २०१५ और शालिवाहन शक १८८० का है। उसमें अधिक श्रावण है। उसमें मास और पक्ष का क्रम इस प्रकार है—पहले चैत्र शुक्ल, उसके पश्चात् वैशाख कृष्ण, फिर वैशाख शुक्ल आदि। अन्त में फाल्गुन शुक्ल और चैत्र कृष्ण। इस प्रकार मास पौर्णिमान्त हैं और शालिवाहन शक का वर्ष चैत्र शुक्ल १ से प्रारम्भ होता है। इससे वर्ष के अन्त से पहिले का दिन चैत्र कृष्ण १४ आता है।

ऐसा हुआ कि एकबार वे चित्तौड के मार्ग पर से गुजर रहे थे। उस समय उपाश्रय मे से एक साध्वी द्वारा बोली जानेवाली एक गाथा उनके सुनने मे आई [२५]। गाथा प्राकृत भाषा मे और वह भी संक्षिप्त एव सकेतपूर्ण थी; अत. उसका मर्म उनकी समझ मे न आया। परन्तु हरिभद्र मूलतः थे जिज्ञासा की मूर्ति, इससे वे साध्वी के पास पहुँचे और उस गाथा का अर्थ जानने की अपनी इच्छा प्रदर्शित की। उस साध्वी ने अपने गुरु जिनदत्तसूरि के साथ उनका परिचय कराया। उन्होने हरिभद्र को संतोष हो इस तरह बात करके अन्त मे कहा कि यदि प्राकृत शास्त्र तथा जैन-परम्परा का पूरा-पूरा और प्रामाणिक अभ्यास करना हो तो उसके लिए जैन-दीक्षा आवश्यक है। हरिभद्र तो उत्कट जिज्ञासु, स्वभाव से एकदम सरल और अपनी प्रतिज्ञा मे दृढ थे। अत उन्होने उस सूरि के पास जैन-दीक्षा अगीकार की और साथ ही अपनी प्रतिज्ञा का पालन करने के लिए अपने आपको उस साध्वी के धर्मपुत्र के रूप मे उद्घोषित किया [२६]। उस साध्वी का नाम 'याकिनी' था। कोई भी पुरुष पुरुष के पास ही दीक्षा ले सकता है, अत. यद्यपि उन्होने जैन-दीक्षा तो जिनदत्तसूरि के पास ली किन्तु महत्तरा याकिनी साध्वी का धर्मऋण चुकाने के लिए

यो तो पण्डित लोग शालिवाहन शक का वर्ष समग्र भारतवर्ष मे चैत्र शुक्ला १ से गिनते है, फिर भी उत्तर मे पौर्णिमान्त और दक्षिण मे अमान्त मासगणना चलती है। किल्हॉर्न के almost शब्द से निर्दिष्ट अपवाद उत्तर भारत के होने चाहिए, और हरिभद्रसूरि का case भी उत्तर का है। शालिवाहन शक के मास आज भी उत्तर भारत के पडितो के पचागो मे पौर्णिमान्त गिने जाते है, और फिर भी उनमे शक सवत् का प्रारम्भ चैत्र शुक्ला १ से होता है। सम्भव है कि सामान्य जनता मे भिन्न पद्धति प्रचलित हो और तदनुसार inscriptions मे भिन्न रूप से लिखा जाता हो और उद्द्योतनसूरि ने पण्डितो की पद्धति के अनुसार कुवलय-माला को पूर्ण करने की तिथि लिखी हो; सक्षेप मे, कुवलयमाला मे लिखी हुई तिथि मे कोई दोष मुझे नही दिखता। इस प्रकार शा शक ७०० चैत्र कृष्णा चतुर्दशी के दिन ई स ७७९ के मार्च की २१वी तारीख आती है।

२५. चक्किदुग हरिपणग पणग चक्कीण केसवो चक्की।
केसव चक्की केसव दु चक्की केसी अ चक्की अ ॥
—आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा ४२१

२६ यद्यपि स्वय हरिभद्र अथवा अन्य कोई याकिनी नाम्नी किसी महत्तरा के व्यक्तित्व के विषय मे कुछ विशेष निर्देश नही करते, फिर भी ऐसा प्रतीत होता है कि इस महत्तराका व्यक्तित्व, चारित्र्य, स्वभावमाधुर्य आदि अनेक विशेषताओ के कारण भव्य होना चाहिए।

उन्होने अपने आपको "धर्मतो याकिनीमहत्तरासूनु" [२७] कहने मे गौरव का अनुभव किया।

यहा से हरिभद्र का विद्या-विषयक दूसरा युग शुरू होता है। वह प्राप्य सभी संस्कृत-प्रधान विद्याओ मे तो निष्णात थे ही, परन्तु प्राकृत आदि इतर भाषा-प्रधान विद्याओ से सर्वथा अपरिचित थे। जैन-दीक्षा अंगीकार करके उन्होने प्राकृत भाषा तथा उसमे लिखे गये और सुलभ ऐसे जैन-परम्परा के अनेकविध शास्त्रो का पारदर्शी अवगाहन कर लिया। इस तरह उन्होने अपने जीवन मे ब्राह्मण एवं श्रमण दोनो परम्पराओ की विद्याए एकरस की। यदि वे सस्कृत भाषा और उसमे निबद्ध विद्याओ के पारगामी विद्वान् न होते, तो उन्हे जैन-परम्परा के प्राकृत-प्रधान विविध विषयो का थोडे समय मे ऐसा पारदर्शी ज्ञान शायद ही होता। इसी पारिगामिता के परिणाम-स्वरूप ही उन्होने जैन-परम्परा के महत्त्व के गिने जा सके ऐसे कई आगम-ग्रन्थो के ऊपर सस्कृत टीकाए लिखी है [२८] तथा प्राकृत भाषा मे विविध प्रकार का विपुल साहित्य भी रचा है [२९]।

हरिभद्र ने अपने माता-पिता या वंश आदि का कही पर भी उल्लेख नही किया है। जब उन्होने स्वयं अपने आपको याकिनी महत्तरा का पुत्र और वह भी धर्मपुत्र कहा, तब उनके इस छोटे-से विशेषण मे से एक विशिष्ट अर्थ फलित होता है ऐसा मैं समझता हूँ। मेरी दृष्टि से वह अर्थ यह है कि अज्ञात समय से जाति एवं धर्म के मिथ्या अभिनिवेश के कारण ब्राह्मण और श्रमण परम्परा के बीच जो एक प्रकार की खाई बिछी हुई थी वह याकिनी महत्तरा के परिचय के द्वारा हरिभद्र के जीवन मे पट गई। ऐसा लगता है कि उनके जीवन पर इस घटना का इतना अधिक प्रभाव

---

२७ आवश्यकटीकाकी प्रशस्ति "समाप्ता चेयं शिष्यहिता नामावश्यकटीका। कृति सिताम्बराचार्य – जिनभटनिगदानुसारिणो विद्याधरकुलतिलकाचार्यजिनदत्तशिष्यस्य धर्मतो याकिनीमहत्तरासूनोरल्पमतेराचार्यहरिभद्रस्य"

उपदेश की प्रशस्ति

"जाइणिमयहरिआए रइया एए उ धम्मपुत्तेण।

हरिभद्दायरिएण भवविरह इच्छमाणेण॥"

पचसूत्रविवरण की प्रशस्ति "विवृत च याकिनीमहत्तरासूनु-श्रीहरिभद्राचार्ये।"

२८ दशवैकालिक, आवश्यक, नन्दी, अनुयोगद्वार, पन्नवणा, ओघनिर्युक्ति, चैत्यवन्दन जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, जीवाभिगम तथा पिण्डनिर्युक्ति।

—धर्मसग्रहणी की प्रस्तावना, पृ १३ से १७

२९ देखो परिशिष्ट २।

पडा कि वह अपने जन्मदाता माता-पिता को याद नही करते, परन्तु उस महत्तरा का धर्ममाता के रूप मे उल्लेख करने मे गौरव का अनुभव करते है। सामान्यत जैनसाधु अपने विद्या या दीक्षा गुरु आदि का स्मरण करता है, परन्तु शायद ही ऐसा कोई साधु या आचार्य हुआ होगा जिसने किसी साध्वी का स्मरण किया हो। हरिभद्र इस छोटे-से विशेषण से याकिनी द्वारा अपने जीवन मे हुए महान् परिवर्तन का सूचन करते हैं और अपने आपको धर्मपुत्र कहकर मानो उस साध्वी के प्रति जन्मदात्री माता की अपेक्षा भी अधिक बहुमान प्रदर्शित करते है। उनके मनमे ऐसी बात जम-सी गई होगी कि यदि मुझे इस साध्वी का परिचय न हुआ होता, तो मैं परम्परागत मिथ्याभिमान के संस्कार से विद्या के एक ही चौके मे बंधा रह जाता और विद्या का जो नया क्षेत्र खुला है वह न खुलता। ऐसे किसी अनन्य भाव से उन्होने उस छोटे-से विशेषण का अपनी कई रचनाओ मे निर्देश किया है। हरिभद्रसूरि ने स्वयं ही "धर्मतो याकिनीमहत्तरासूनु" ऐसे विशेषण का उल्लेख न किया होता, तो उनके जीवन मे घटित असाधारण क्रान्ति की सूचना उत्तरकाल मे बचने न पाती और मुख-परम्परा से यह घटना चली आती, तो भी शायद वह दन्तकथा मे ही परिगणित हो जाती। अतएव मै ऐसा समझता हूँ कि यह विशेषण हरिभद्र के जीवन का सूचक होने से उनके उत्तरकालीन समग्र जीवन-प्रवाह पर एक विशेष प्रकार का प्रकाश डालनेवाला है।

भव - विरह

हरिभद्र के उपनाम के रूप में दूसरा एक विशेषण प्रसिद्ध है और वह है "भव-विरह"[३०]। उन्होने स्वयं ही अपनी कई रचनाओ मे "भव-विरह के इच्छुक" के नाम से अपना निर्देश किया है। इस "भव-विरह" के पीछे उनका कौनसा सकेत रहा है, इसका उन्होने कही भी उल्लेख नही किया है, परन्तु उनके जीवन का आलेखन करनेवाले अनेक ग्रंथो मे इसका खुलासा देखा जाता है। इनमे सर्वाधिक प्राचीन

---

३० प श्रीकल्याणविजयजी ने 'धर्मसग्रहणी' की प्रस्तावना मे (पृ १९ से २१) जिन-जिन ग्रन्थो की प्रशस्तियो मे 'विरह' शब्द आता है वे सब प्रशस्तिया उद्धृत की है। उन ग्रन्थो के नाम इस प्रकार है—अष्टक, धर्मबिन्दु, ललितविस्तरा, पचवस्तुटीका, शास्त्रवार्तासमुच्चय, योगदृष्टिसमुच्चय, षोडशक, अनेकान्तजयपताका, योगबिन्दु, ससारदावानलस्तुति, धर्मसग्रहणी, उपदेशपद, पचाशक और सम्बोधप्रकरण।

इसके अतिरिक्त 'कहावली' के कर्त्ता भद्रेश्वर ने तो उनके 'भवविरहसूरि' नाम का निर्देश प्रबन्ध मे अनेक बार किया है।

उल्लेख 'कहावली' का होने से उसके आधार पर उसका अर्थ जानना यहाँ आवश्यक प्रतीत होता है।

"भव-विरह" शब्द के पीछे मुख्यतया जिन तीन घटनाओ का संकेत है वे इस प्रकार हैं — (१) धर्म-स्वीकार का प्रसंग [३१], (२) शिष्यो के वियोग का प्रसंग [३२], और (३) याचको को दिए जानेवाले आशीर्वाद का और उनके द्वारा किए जानेवाले जय जयकार का प्रसग [३३]। इन तीनो प्रसगो को अब हम सक्षेप मे देखे :—

(१) धर्म-स्वीकार का प्रसंग —

याकिनी महत्तरा जब हरिभद्र को अपने गुरु जिनदत्तसूरि के पास ले गई, तब उन्होने हरिभद्र को प्राकृत गाथा का अर्थ कहा। इसके पश्चात् उन सूरि ने हरिभद्र को याकिनी के धर्मपुत्र बनने की सूचना की। हरिभद्र ने सूरि से पूछा कि धर्म क्या है और उसका फल कौनसा है? इस पर उन्होने कहा कि "सकाम और निष्काम इस प्रकार धर्म दो तरह का है। इनमे से निष्काम-धर्म का फल तो भव अर्थात् ससार का विरह – मोक्ष है, जबकि सकाम-धर्म का फल स्वर्ग आदि है।" तब हरिभद्र ने कहा कि "मै तो भव-विरह अर्थात् मोक्ष ही पसन्द करता हू।' फलत उन्होने प्रव्रज्या लेने का निश्चय किया और जिनदत्तसूरि के पास जैन-प्रव्रज्या अगीकार की। मोक्ष के उद्देश्य से ही वे प्रव्रज्या की ओर अभिमुख हुए थे, अत उनका मुद्रालेख "भव-विरह" बन गया।

(२) शिष्यो के वियोग का प्रसंग —

चित्तौड मे ही बौद्ध-परम्परा का भी विशिष्ट प्रभाव था। उस परम्परा का अभ्यास करने के लिए गये हुए उनके जिनभद्र एव वीरभद्र नामक दो शिष्यो की, धर्म द्वेप के परिणामस्वरूप, मृत्यु हुई। इससे हरिभद्र उद्विग्न हुए, परन्तु शिष्यो की भाति ग्रंथ भी धर्म की एक महान् विरासत है ऐसा समझकर वे ग्रन्थ-रचना मे उद्युक्त हुए। दीक्षाकालीन "भव-विरह" मुद्रालेख तो उनके मन मे रमाण था ही और शिष्यो की मृत्यु का आघात भी मन पर पडा हुआ था। इस आघात को शांत करने का बल भी उन्हे अपने मुद्रालेख से ही मिल गया। उन्होने सोचा कि ससार तो अस्थिर ही है, उसमे इष्ट-वियोग कोई असाधारण घटना नही है। अत. वैसे

---

३१ 'कहावली' पत्र ३०० "हरिभद्दो भणइ भयव पिउ मे भवविरहो।

३२. 'प्रभावकचरित्र' शृ ग ९, श्लोक २०६।

३३ 'कहावली' पत्र ३०१ अ "चिर जीवउ भवविरहसूरि त्ति।"

वियोग'' के लिए अनुताप करने की अपेक्षा भव-विरह अर्थात् मोक्ष-धर्म को लक्ष्य मे रखकर ग्रन्थ-रचना मे एकाग्र हो जाना ही परम कर्तव्य है। इस प्रकार उन्होने अपने ''भव-विरह'' के मुद्रालेख मे से आश्वासन प्राप्त किया और शिष्यो के विरहजन्य शोक को शांत किया। इस घटना का स्मरण उन्होंने ''भव-विरह'' शब्द मे सुरक्षित रक्खा है।

(३) याचकों को आशीर्वाद और उनके जय जयकार का प्रसंग.—

तीसरा प्रसंग ऐसा है कि जब कोई भक्त हरिभद्रसूरि के दर्शनार्थ आता तो वह उन्हे आशीर्वाद के रूप मे आजकल जैसे ''धर्मलाभ'' कहा जाता है वैसे ''भव-विरह'' का आशीर्वाद देते। इस पर आशीर्वाद लेनेवाला भक्त 'भव-विरहसूरि बहुत जीये' ऐसा कहता। इस विषय की एक खास घटना का उल्लेख 'कहावली' मे आता है, जो जानने जैसा है। लल्लिग नाम का एक व्यापारी गृहस्थ हरिभद्र के ऊपर अनन्य आदरभाव रखता था। वह पहले तो दरिद्र था, परन्तु धीरे धीरे सम्पन्न होने पर वह अपनी सम्पत्ति का उदारता से उपयोग करने लगा। वह प्रतिदिन मुनियो के भिक्षा के समय शंख बजाता और जो कोई भूखा आता उसे खाना खिलाता। उसके मनमे कुछ ऐसा बस गया होगा कि त्यागी गुरु को भिक्षा देना तो कर्तव्य है ही, परंतु गाव की हद मे से कोई भूखा न जाय यह देखने का भी गृहस्थ का धर्म है। यह आतिथ्य-परम्परा आज के कडे समय मे भी थोडी बहुत बची तो है ही। धर्मशाला, सराय आदि स्थानो मे सदाव्रत की जो परम्परा बची हुई है वह पूर्वकालीन आतिथ्य-धर्म का प्रतीक है। लल्लिग इस धर्म मे विशेष रस लेता होगा। आगन्तुक लोग भोजनशाला मे भोजन करने के बाद हरिभद्रसूरि को वन्दन करने के लिए भी जाते थे। वह उन्हे, 'भव-विरह प्राप्त करो, तुम्हारा मोक्ष हो' ऐसा आशीर्वाद देते थे। आगन्तुक भी उन्हे 'भव-विरहसूरि बहुत जीये' ऐसा कहकर विदाई लेते थे। इस प्रसंग से भी ऐसा मालूम होता है कि उनका उपनाम 'भव-विरह' विशेष प्रसिद्धि मे आया होगा।

यहा हरिभद्रसूरि के भक्त के रूप मे लल्लिग का जो उल्लेख है उसका एक खास अर्थ भी है, और वह यह कि लल्लिग ने हरिभद्रसूरि को ग्रन्थ-रचना मे बहुत बडी सहायता की थी। हरिभद्रसूरि ने रातदिन अपनी समग्र शक्ति विविध ग्रन्थो की रचना मे लगा दी। वे रात के समय भी लिखते थे, परन्तु उस काल मे कागज जैसे अद्यतन साधन तो थे ही नही। पहले तख्ती या दीवार के ऊपर लिखा जाता था, उसमे सशो-धन, परिवर्तन या परिवर्धन करके अंतिम रूप देने के उपरात ही ताडपत्र आदि के

[illegible] अत रात मे लिखना हो तो साधु-

धर्म के कारण दीए आदि की सुविधा उन्हे सुलभ ही नही थी, परन्तु लल्लिग ने प्राप्य उल्लेख के अनुसार, एक देदीप्यमान हीरा उनके पास उपाश्रम मे रक्खा था[३४]। वस्तुत वह हीरा होगा या दूसरी कोई वस्तु, परन्तु वह प्रकाश दे और दीए का काम दे ऐसी कोई निर्दोष वस्तु होनी चाहिए। वे उस प्रकाश का उपयोग करके दीवार या तख्ती के ऊपर प्राथमिक मसौदा लिख लेते। इस कार्य मे लल्लिग ने जो सुविधा कर दी और हरिभद्र ने उसका असाधारण उपयोग किया वह उत्तरकालीन हेमचन्द्रसूरि और सिद्धराज एव कुमारपाल के सम्बन्ध का सस्मरण कराता है[३५]।

हरिभद्रसूरि इस प्रकार छोटे-बडे ग्र थो की रचना करते और अन्त मे 'भव-विरह' पद जोड देते। कहावलीकार आदि ने यदि लल्लिग के इस वृत्तान्त का उल्लेख न किया होता, तो हरिभद्रसूरि की ग्रन्थ-रचना का तप कैसा था इसका पता हमे न चलता और लल्लिग साधुओ की भाति दूसरे याचको को सतुष्ट कर आतिथ्य-धर्म की प्राचीन परम्परा का किस तरह पालन एवं पोषण करता था इसकी जानकारी भी हमे उपलब्ध न होती।

पोरवाल जाति की स्थापना

हरिभद्र ने मेवाड मे पोरवाल वंश की स्थापना करके उन्हे जैन-परम्परा मे दाखिल किया ऐसी अनुश्रुति ज्ञातियो का इतिहास लिखनेवालो ने नोट की है[३६]।

---

३४ कहावली "समप्पिय च सूरिणो लल्लिगेण पुव्वागयरयणाणं मज्झाओ जच्चरयण, तदुज्जोएण य रयणीए विढप्पेइ सूरि भित्तिपट्टयाइसु गये।"

३५ देखो 'प्रभावकचरित्र' गत २२वाँ हेमचन्द्रसूरिप्रबन्ध, काव्यानुशासन भाग २, प्रस्तावना पृ २७३ से।

३६ प श्री कल्याणविजयजी 'धर्मसग्रहणी' प्रस्तावना पृ ७।

व्याख्यान दूसरा

दर्शन एवं योग के सम्भवित उद्भवस्थान – उनका प्रसार – गुजरात के साथ उनका सम्बन्ध – उनके विकास में हरिभद्रसूरि का स्थान

इस व्याख्यान मे समाविष्ट होनेवाले चार मुद्दो पर हम अनुक्रम से विचार करेगे। इनमे से पहला मुद्दा है – दर्शन एवं योग के सम्भवित उद्भवस्थान। उद्भव-स्थान का प्रश्न हमे अज्ञात अतीतकाल तक ले जाता है। इसका कोई निर्विवाद और अन्तिम उत्तर देने का कार्य चाहे जैसे समर्थ अभ्यासी के लिए भी सरल नही है। इसके अलावा, इसका उत्तर सोचने और पाने मे साप्रदायिक वृत्ति भी कुछ बाधक होती है। सामान्यतः मानव-मानस परम्परा से ऐसा निर्मित होता आया है कि वह उसे विरासत मे मिली हुई सास्कृतिक एवं धार्मिक भावना को दूसरे की वैसी भावना की अपेक्षा विशेप समुन्नत और पवित्र मानने की ओर अभिमुख होता है, फलत. वह उत्तराधिकार मे प्राप्त अपनी वैसी सास्कृतिक एवं धार्मिक भावना को हो सके उतनी प्राचीनतम और एकमात्र मौलिक मानने का आग्रह रखता है। भारतीय धर्म परम्प-राओ के दृष्टात से यह बात स्पष्ट करनी हो तो हम यहा तीन वादो का उल्लेख कर सकते हैं – (१) मीमासक का वेद-विषयक अपौरुषेयत्ववाद, (२) न्याय-वैशेपिक जैसे दर्शनो का ईश्वरप्रणीतत्ववाद और (३) आजीवक एवं जैन जैसी परम्पराओ का सर्वज्ञप्रणीतत्ववाद। ये वाद असल मे तो ऐमी भावनाओ मे से उत्पन्न एव विकसित हुए है कि उस-उस परम्परा के शास्त्र और उनमे आई हुई दार्शनिक एव योग परम्परा खुद उनकी अपनी ही है और उसमे जो कुछ है वह या तो अनादि और सनातन है, या ईश्वरकथित होने से उनमे मानव बुद्धि का स्वतन्त्र प्रदान नही है, या फिर सर्वज्ञप्रणीत होने से वह एक सम्पूर्ण व्यक्ति के पुरुषार्थ का ही परिणाम है। अपनी-अपनी धर्म-परम्परा के प्रति मानव-मन असाधारण आदरभाव रक्खे और उसकी ओर सहज पवित्रता की श्रद्धा रक्खे, तब तक तो वे वाद सत्य-शोधन मे खास बाधक नही होते, परन्तु जब जिज्ञासु संशोधक व्यक्ति वस्तुस्थिति जानना चाहता है और प्रयत्न करता है, तब वे वाद बहुत बडा विघ्न खडा करते है। साधारण अनुयायी

वर्ग अपनी अपनी धर्म-परम्परा को सर्वथा भिन्न माने और दूसरी परम्परा अथवा दूसरे मानवयूथ के पास से अपनी परम्परा में कुछ भी नयी बात आने का इन्कार करे, तब सत्य की दृष्टि अवरुद्ध होती है। अतएव सम्भवित उद्भवस्थानो के प्रश्न की विचारणा मे हमे ऐसे वादो को एक ओर ही रखना पडेगा। यद्यपि इन वादो के आसपास सूक्ष्म तार्किक अनुमान और दूसरी रसप्रद बौद्धिक सामग्री भारतीय दार्शनिक साहित्य मे इतनी बडी मात्रा मे सञ्चित हुई है कि उसे देखने तथा उस पर विचार करने पर प्रत्येक पक्षकार के बुद्धि-वैभव के प्रति और उनकी अपने अपने सम्प्रदाय को अनन्य भाव से भजने की वृत्ति के प्रति मान पैदा हुए बिना नही रहता, फिर भी सत्य की शोध मे निकला हुआ मनुष्य आग्रह एवं अभिनिवेश का परित्याग किए बिना सत्य का साक्षात्कार नही कर सकता।

उपर्युक्त अपौरुषेयत्व आदि वाद प्रस्तुत प्रश्न के उत्तर के विचार मे अवरोधक होते है, यह सही है फिर भी प्राचीन समय मे भी एक तत्वचिन्तक और स्वतन्त्र परम्परा के पुरस्कर्ता ऐसे हुए हैं जिनका झुकाव उक्त वादो मे अलग पडता दिखाई देता है, वह है तथागत बुद्ध। तथागत ने अपने दार्शनिक एवं योग-विषयक सिद्धान्तो के बारे मे अपने शिष्यो के समक्ष अपने ही श्रीमुख से जो कहा था उसका उल्लेख पिटक मे मिलता है। उन्होने कहा था कि मैं जो कुछ कहता हू वह न तो अपौरुषेय है, न ईश्वरप्रणीत है और न सर्वज्ञप्रणीत ही। मैं तो सिर्फ एक धर्मज्ञ हू। जो धर्म मै तुम्हे समझाता हू उसकी जानकारी तक ही मेरी मर्यादा है। उस धर्म-विषयक अनुभव से अधिक जानने का या कहने का मेरा दावा भी नही है। इसीमे तुम मेरे कथन को तर्क एव स्वानुभव से जाचो और कसो। मैंने कहा है इसीलिए उसे मत मानों[1]। बुद्ध का यह कथन हमे अपने विषय मे स्वतन्त्र रूप मे विचार करने की

---

१ मैं जो कुछ कहता हूँ वह परम्परा से सुना करते हो इसलिए उसे सत्य मत मानना, अथवा हमारी पूर्वपरम्परा ऐसी है इसलिए सत्य मत मानना, 'यह ऐसा ही होगा' ऐसा भी जल्दी से मत मान लेना, अथवा यह बात हमारे धर्मग्रन्थो मे है इसलिए भी उसे सत्य मत मानना; यह बात तुम्हारी श्रद्धा के अनुकूल है, इसलिए उस पर विश्वास मत रखना; अथवा तुम्हारे धर्मगुरु ने कहा है, इसलिये उस पर विश्वास मत रखना।

—डॉ राधाकृष्णन कृत Gautama, the Buddha का गुजराती अनुवाद पृ १३

एथ तुम्हे कालामा मा अनुस्सवेन, मा परम्परया, मा इतिकिराय, मा पिटकसपादनेन, मा तक्कहेतु, मा नयहेतु, मा आकार परिवितक्केन, मा दिट्ठिनिज्झानक्खतिया, मा भव्यरूपताय, मा समणो नो गुरू ति। यदा तुम्हे कालामा अत्तना व जानेय्याथ—इमे धम्मा अकुसला, इमे धम्मा सावज्जा, इमे धम्मा विञ्ञुगरहिता, इमे धम्मा समत्ता समादिन्ना अहिताय, दुक्खाय, सवत्त ती ति– अथ तुम्हे कालामा पजहेय्याथ।

—अगुत्तरनिकाय भाग १, ३ ६५ ३, पृ १८९ (पाली टेक्स्ट सोसायटी)

दिशा मे प्रोत्साहक हो सके ऐसा है। यह सच है कि सम्प्रदाय की स्थापना होने पर सुगत के शिष्यों ने भी उन्हे धीरे-धीरे सर्वज्ञ बना दिया [२] और उनके विचार आचार मानो स्वत. पूर्ण हो ऐसी श्रद्धा परम्पराओ मे निर्मित की, तथापि स्वयं बुद्ध की वृत्ति तो सर्वदा ही सब प्रकार के पूर्वाग्रहो से विमुक्त होकर सोचने-समझने की रही है।

बुद्ध पूर्ण श्रद्धालु और फिर भी तर्कप्रधान थे; अत. जो जो वस्तु बुद्धि एव तर्क की कसौटी पर पूरी न उतरे उसे वे अलग हटा देते थे। उनकी इस वृत्ति का आज अनेक गुना विकास हुआ है। जब से विज्ञान ने अपनी कलाएं विकसित की और पंख पसारे तथा उसके साथ ही इतिहास एवं तुलना की दृष्टि खिली, तब से सशोधन के अनेक नये नये प्रकार और मार्ग अस्तित्व मे आये है। पुरातत्वीय अवशेष, मानव-वंश-विद्या, मानवजाति-शास्त्र, मानव-समाज एवं उसकी सस्कृति का शास्त्र तथा भाषाविज्ञान जैसे क्षेत्रो मे इतना अधिक कार्य हुआ है और अब भी हो रहा है कि उनके द्वारा उपलब्ध होनेवाली प्रत्यक्ष जानकारी पर से जो जो अनुमान किए गए हैं उनमे से अधिकाश अनुमान विद्वानो मे सर्वसम्मत से हो गये हैं। अत वैसे अनुमानो की अवगणना करके ऊपर कहे गये प्राचीन वादो की कल्पना-सृष्टि पर सर्वथा निर्भर रहना इस युग मे अब शक्य ही नही है। इस दृष्टि से जब हम वैज्ञानिक पद्धति का अनुसरण करनेवाले इतिहास का अवलम्बन लेकर विचार करते है, तब दर्शनो की तथा योग की परम्परा के सम्भवित उद्भवस्थानो के बारे मे कुछ अस्पष्ट और फिर भी सच्चा प्रकाश हमे प्राप्त होता है।

यह भारतवर्ष लम्बे समय से आर्यदेश तथा हिन्द के नाम से विख्यात है, परन्तु 'आर्य' एवं 'हिन्द' का मानाई और व्यापक पद प्राप्त करने मे उसे अनेक सहस्र वर्षों की रासायनिक प्रक्रिया मे से गुजरना पडा है। आर्यवर्ग – जिसका वेद के साथ निकट का सम्बन्ध था वह वर्ग असल मे इस देश का ही था अथवा बाहर से इस देश मे आकर वसा था इसके विषय मे मतभेद है, परन्तु बहुमत एव बहुत से ठोस तथ्य बाहर से आकर उसके यहा बसने का समर्थन करते है [३], फिर भी इस जगह तो इस प्रश्न को एक ओर रखकर ही विचारना ठीक होगा। वैदिक आर्य असल यहा

---

२ तत्सम्भव्यपि सर्वज्ञ सामान्येन प्रसाधित ।
तल्लक्षणाविनाभावात् सुगतो व्यवतिष्ठते ॥

—तत्वसग्रह, श्लो ३३३६ तथा उसके आगे

३ देखो 'Vedic Age' Book III. Aryans in India, Ch x- The Aryan Problem

के ही हो अथवा बाहर से आये हो, चाहे जो माने, परन्तु एक बात सुनिश्चित है कि प्रारम्भ मे वह आर्यवर्ग बहुत छोटा था और पश्चिमोत्तर प्रदेश के अमुक भाग मे ही बसा हुआ था। इस वर्ग के अतिरिक्त ऐसी दूसरी अनेक जातिया इस देश मे थी और बाहर से आकर यहा बस गई थी, जो इतिहासक्रम मे आर्यवर्ग से पहले की पूर्ववर्ती थी। ऐसी जातियो के भिन्न भिन्न नाम से उल्लेख वैदिक वाङ्मय मे मिलते है[४]। वैदिक आर्य उन जातियो को आर्येतर ही मानते रहे है[५]। ऐसी प्राचीनतर और प्राचीनतम जातियो मे नेग्रीटो, ऑस्ट्रिक, द्राविड और मंगोल मुख्य है। इनमे से ऑस्ट्रिक निषाद के नाम से, द्राविड दासदस्यु के नाम से और मगोल किरात के नाम से व्यवहृत हुए है[६]। आर्यवर्ग छोटा था, जबकि ये पूर्ववर्ती जातिया उसकी अपेक्षा अधिक बडी थी और विशाल प्रदेश पर फैली हुई थी। पूर्ववर्ती प्रजाओ का आपस-आपस मे रक्त-मिश्रण एवं सास्कृतिक आदान-प्रदान होता होगा इसमे शंका नही है, फिर भी वैदिक आर्यों के आगमन अथवा स्थिर-निवास एवं प्रसरण के साथ वह मिश्रण और आदान-प्रदान और भी अधिक तीव्र हुआ[७]। इस मिश्रण के अनेक पहलू है। भाषा, रक्त-सम्बन्ध, सस्कृति और धर्म इन सभी क्षेत्रो मे मिश्रण के परिणामस्वरूप एक अद्भुत रसायन निर्मित हुआ है जो आज की भारतीय प्रजा मे दृष्टिगोचर होता है। वैदिक आर्यों की कवि-भाषा या शिष्ट-भाषा संस्कृत थी, इसका दूसरा रूप तत्कालीन प्राकृत था। परन्तु इस भाषा ने पूर्ववर्ती जातियो की सभी भाषाओं का स्थान लिया। यह स्थान लेने मे उसने पूर्ववर्ती भिन्न-भिन्न भाषाओ के अनेक तत्व अपना लिये और अपने कलेवर को इतना अधिक शक्तिशाली बनाया कि अन्त मे दूसरी भाषाएं उस सस्कृत, तद्भव या तत्सम प्राकृत के प्रभाव मे और प्रवाह मे

---

४ 'Vedic Age' The Tribes in Rigveda, p 245

५ दास, दस्यु, पणि आदिको आर्येतर माना जाता है। देखो वही, पृ २४८–५०।

६ वही Race movements and Prehistoric Culture, p 142 ff, Dr Sunitikumar Chatterji Presidential Address, All-India Oriental Conference, 1953, p 11-17

७ डा सुनीतकुमार चटर्जी का उपर्युक्त व्याख्यान पृ. २०

"The racial fusion that started in India with great vigour some 3500 years ago, after the advent of the Aryans, was wider in scope than anywhere else in the world, with the white, brown, black and yellow peoples, Aryas, Dravidas, Nishadas and Kiratas, all being included in it This kind of miscegenation, together with the admission into India of various other types of culture and religious out-look, has perhaps made the average Indian more cosmopolitan in his physical and mental composition than a representative of any other nation"

एकरस हो गईं या समा गईं। यह है आर्यवर्ग के द्वारा साधित भाषाओ के संस्कृतीकरण की आद्य सिद्धि [८]।

परन्तु भाषाओ के परस्पर सक्रमण के साथ ही रक्त का सम्मिश्रण भी चलता था। इसके साथ ही सामाजिक एवं सास्कृतिक जीवन भी परस्पर के मिश्रण के आधार पर निर्मित होता गया [९] और जो प्राचीन आर्येतर जातियाँ थी वे अपने अनेक सामाजिक रीति-रिवाजो और सास्कृतिक अंगो के साथ आर्य वर्ग के दायरे मे दाखिल होती गई। फलत. 'आर्य' शब्द, जो प्रारम्भ मे एक छोटे-से वर्ग तक मर्यादित था, अब एक विशाल समाज का निर्देशक बन गया और उसमे वर्ण अर्थात् रंग, जन्म, कर्म एवं गुण आदि के आधार पर चातुर्वर्ण्य की व्यवस्था की गई। इस चातुर्वर्ण्य का फैलावा देशव्यापी बन गया। यह हुई आर्यीकरण की प्रक्रिया। इसमे 'आर्य' पद वर्गवाची न रहकर उदात्त गुण-कर्म सूचक बन गया। [१०]

आर्यीकरण की प्रक्रिया के प्रारम्भ के साथ ही धर्म एव तत्त्वज्ञान की परस्पर संक्रान्ति भी शुरू हो ही गई थी। आर्येतर जातियो के धार्मिक और तात्त्विक संस्कार आर्यवर्ग के वैसे संस्कारों से बहुत भिन्न थे। आर्य मुख्यतया प्रकृति की विविध शक्ति की या उसके विविध पहलुओ की आकाशीय अथवा स्वर्गीय देव के रूप मे, अथवा तो एक गूढ शक्ति के विविध प्राकृतिक आविर्भावो के रूप मे स्तुति करते थे। उनका स्तवन जब यजन या यज्ञविधि मे परिणत हुआ, तब उस विधि मे अग्निकल्प मुख्य था। अग्नि मे मंत्रपूर्वक आहुतियाँ देने का और अधिष्ठापक देवो को प्रसन्न करने के धर्म का मुख्य रूप से आर्यवर्ग ने विकास किया, [११] जब कि आर्येतर जातियो मे से द्राविड जैसी जातियो की धार्मिक वृत्ति सर्वथा भिन्न प्रकार की थी। वे स्वर्गीय

---

८ उपर्युक्त व्याख्यान पृष्ठ १७ : "The language they brought became an instrument of the greatest power in the setting up of Indian civilisation It was the Vedic language, the Old Indo-Aryan speech, which later on as Sanskrit was transformed into one of the greatest languages of civilisation in which the composite culture of ancient India found its most natural vehicle"

९ वही, पृ ९।

१० वही, पृ ११ "The name of one dominant race, Arya, very soon lost its narrow ethnic significance or application and became rather a word to denote nobility and aristocracy of character and temperament With the general acceptance of the Aryan language in North India, and with the admission of its prestige in the South as well, the fact that this language was profoundly modified within

नही, किन्तु भूमिवासी प्राणी, पशु, मनुष्य एवं पशु-मनुष्य की मिश्र आकृतिवाले सत्त्वो की अवतार के रूप मे पूजा करते थे, और वह पूजा मिट्टी, पत्थर, लकडी, धातु आदि के प्रतीक तथा चित्र एव इतर प्रतिकृतियो के द्वारा की जाती थी। यह मूर्ति-पूजा का ही एक खास स्वरूप था।[१२] आर्यवर्ग मे ऐसी मूर्तिपूजा ज्ञात नही होती। यद्यपि उसमे यजन कार्य मे दम्पति सम्मिलित होते थे, परन्तु यजन की विधि विशिष्ट पुरुष अर्थात् पुरोहित के अतिरिक्त कोई नही करा सकता था। दान-दक्षिणा द्वारा यज्ञ करानेवाला दूसरा वर्ग भले ही हो, परन्तु मन्त्रोच्चार एवं इतर विधि-विधान तो विशिष्ट पुरुप – पुरोहित का ही अधिकार था, जब कि आर्येतर जातियो के धर्म मे प्रचलित पूजा-विधि मे स्त्री-पुरुष, छोटा-बडा या चाहे जैसा ऊचा-नीचा अधिकार रखनेवाला व्यक्ति समान भाव से भाग ले सकता था। आर्यों के यज्ञो मे इतर द्रव्यो के साथ मास की आहुति भी दी जाती थी, जब कि आर्येतर धर्मों की पूजा मे, आजकल जैसे मूर्ति के सामने नैवेद्य धरा जाता है वैसे, पत्र, पुष्प, फल, जल एव दीपक आदि का उपयोग होता था। आर्य यज्ञविधि अत्यन्त जटिल, तो आर्येतर पूजा बिलकुल सरल और सादी। इस प्रकार आर्य एव आर्येतर जातियो के प्राचीन धर्मों मे बहुत बडा अन्तर था।[१३]

इसी प्रकार इनके तत्त्वज्ञान मे भी खास अन्तर देखा जाता है। आर्यवर्ग मे तत्त्वज्ञान 'ब्रह्म' शब्द के विविध अर्थों के विकास के साथ सकलित है, जब कि आर्येतर जातियो का तत्त्वज्ञान 'सम' पद के विविध पहलुओ के साथ आयोजित देखा जाता है।[१४]

India by taking shape in a non-Aryan environment reconciled the Dravidians and others to come under the tutelage of Sanskrit as the sacred language of Hinduism and as the general vehicle of Indian culture"

आर्यीकरण के विस्तृत वर्णन के लिए देखो Dr D R Bhandarkar "Some Aspects of Ancient Indian Culture" Aryanisation, p 24

११ "Vedic Age" Ch XVIII . Religion and Philosophy, P 460, डॉ० सुनीतिकुमार चेटर्जी का उपर्युक्त व्याख्यान, पृ० ५२।

१२ डॉ० सुनीतिकुमार चेटर्जी का उपर्युक्त व्याख्यान, पृ० ५२, "विष्णुधर्मोत्तर" ४३, ३१–५।

१३ डॉ० सुनीतिकुमार चेटर्जी का उपर्युक्त व्याख्यान, पृ० ५३।

१४ देखो–गुजराती साहित्य परिपद् के २० वें अधिवेशन के तत्त्वज्ञान विभाग के अध्यक्षपद मे दिया गया मेरा व्याख्यान, "ब्रह्म अने सम।"

—बुद्धिप्रकाश, वर्ष १०६, अक ११, पृ० ३८६।

कवित्व की असाधारण प्रतिभा से सम्पन्न और नये नये आचार-विचारो को आत्मसात् करनेवाले ब्राह्मण पुरोहित वर्ग ने 'ब्रह्म' पद का अन्त में ऐसा अर्थ विकसित और फलित किया कि ब्रह्म अर्थात् विश्वगत विविध भेद-सृष्टियो का प्रभवस्थान।[१५] दूसरी ओर 'सम' के उपासक एवं असाधारण साधक व्यावहारिक जीवन के सभी अंगो मे समत्व या समभाव फैलाने की साधना कर रहे थे।[१६] इसके कारण सामाजिक एवं आध्यात्मिक जीवन मे समत्व का अर्थ अत्यन्त सूक्ष्म भूमिका तक विकसित हुआ। समत्व की साधना भी भेद-सृष्टि की भूमिका के ऊपर चलती थी। परन्तु वह अद्वैत मे परिणत न होकर आत्मौपम्य मे परिणत हुई। [१७] यह साधना ही योग परम्परा की असली बुनियाद है।

भारत भूमि मे दर्शन एवं योग इन दोनों का सर्वथा अलग-अलग विकास दृष्टिगोचर नही होता। दार्शनिक तत्त्वचिन्तन हो वहा योग के किसी न किसी अग

---

१५ "ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्" इत्यादि "बृहदारण्यकोपनिषद्" १, ४, १०, "ब्रह्मसूत्र" १, १, १-४, शाकरभाष्यसहित, "भगवद्गीता" १३, १२ आदि, १४, ४।

१६ "भगवद्गीता" के अधोलिखित श्लोक देखो :—

योगस्थ कुरु कर्माणि सग त्यक्त्वा धनजय।
सिद्ध्यसिद्ध्यो समो भूत्वा समत्व योग उच्यते॥ २ ४८॥

यदृच्छालाभसतुष्टो द्वद्वातीतो विमत्सर ।
सम सिद्धावसिद्धौ च कृत्वाऽपि न निबद्ध्यते॥ ४ २२॥

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिता समदर्शिन ॥ ५ १८॥

इहैव तैर्जितः सर्गो येषा साम्ये स्थित मन ।
निर्दोष हि सम ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिता ॥ ५ १९॥

सर्वभूतस्थमात्मान सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शन ॥ ६ २९॥

आत्मौपम्येन सर्वत्र सम पश्यति योऽर्जुन ।
सुख वा यदि वा दु ख स योगी परमो मत ॥ ६ ३२॥

"उत्तराध्ययनसूत्र" की निम्नाकित गाथा देखो —

समयाए समणो होइ बभचेरेण बभणो।
नाणेण उ मुणी होइ तवेण होइ तावसो॥ २५ ३२॥

१७. देखो "अध्यात्म विचारणा" पृ० १२०-२१।

देखो "आचारागसूत्र" का नीचे का पाठ —

सव्वे पाणा पियाऊया सुहसाया दुक्खपडिकूला अप्पियवहा पियजीविणो जीविउकामा सव्वेसिं जीविय पिय। २, ३, ४

लोगसि जाण अहियाय दुक्ख समय लोगस्स जाणित्ता एत्थ सत्थोवरए। ३, १, १,

से आवय नाणव वेयव धम्मव बभव पन्नाणेहि परिजाणइ लोग। ३, १, २,

आवती केयावती लोगसि समणा य माहणा य पुढो विवाय वयति– "से दिट्ठ च

का न्यूनाधिक सम्बन्ध रहता ही था, और योग की साधना हो वहा किसी न किसी प्रकार के तत्त्वचिन्तन का भी आधार होता ही था। ब्रह्मतत्त्व का चिन्तन और समत्व की साधना इन दोनो के अति प्राचीन अल्पाधिक सम्बन्ध के परिणाम स्वरूप धीरे-धीरे ये दोनो ऐसे एकरस हो गये कि ब्रह्मवादी अपने को समवादी और समवादी अपने को ब्रह्मवादी कहने लगा;[१८] ब्राह्मण समन के रूप मे और समन ब्राह्मण के रूप मे पहचाना जाने लगा।[१९] दर्शन एवं योग की इस सुदीर्घ विकास प्रक्रिया के परिणामस्वरूप जो मूलभूत सिद्धान्त स्थिर हुए और जो किसी भी भारतीय परम्परा मे एक अथवा दूसरे रूप मे विद्यमान है और जिनके कारण भारत की संस्कृति इतर देशो की संस्कृति से कुछ अलग-सी पडती है, वे सिद्धान्त संक्षेप मे इस प्रकार है—

१. स्वतन्त्र आत्मतत्त्व का अस्तित्व।
२ पुनर्जन्म और उसके कारण के रूप मे कर्मवाद का सिद्धान्त।

णे सुय च णे मय च णे विन्नाय च णे .. सव्वे पाणा सव्वे भूया सव्वे जीवा ... हतव्वा . एत्थ पि जाणह नत्थेत्थ दोसो" – अणारियवयणमेय। तत्थ जे ते आरिया ते एव वयासी – "से दुद्दिट्ठ च भे, दुस्सुय च भे ..." अणारियवयणमेय ॥ वय पुण एव आइक्खामो .. "सव्वे पाणा न हतव्वा ...." आरियवयणमेय ॥ पुव्व निकाय समय पत्तेय पत्तेय पुच्छिस्सामो – "ह भो वावादुया! किं भे साय दुक्ख उयाहु असाय?" समियावडिवन्ने या वि एव बूया – "सव्वेसिं पाणाण ... असाय अपरिणिव्वाण महब्भय दुक्ख ति" – त्ति बेमि। ४, २, ३–४

देखो "सूत्रकृताग" की निम्न गाथाए —

उराल जगओ जोग विवज्जास पलेंति य।
सव्वे अक्कतदुक्खा य अओ सव्वे अहिंतिया ॥ १, १, ४, ९ ॥
एय खु णाणिणो सार ज न हिंसइ किंचण।
अहिंसा समय चेव एयावत वियाणिया ॥ १, १, ४, १० ॥
विरए गामधम्मेहिं जे केई जगई जगा।
तेसिं अत्तुवमायाए थाम कुव्व परिव्वए ॥ १, ११, ३३ ॥

देखो "दशवैकालिक" की नीचे की गाथा :—

सव्वे जीवा वि इच्छति जीविउ न मरिज्जिउ।
तम्हा पाणिवह घोर निग्गथा वज्जयति ण ॥ ६, ११ ॥

१८ निर्दोष हि सम ब्रह्म। — भगवद्गीता, ५, १९
देखो "स्वयम्भूस्तोत्र" मे आये हुए अधोलिखित पद :—
बभूव च ब्रह्मपदामृतेश्वर। १, ४
स ब्रह्मनिष्ठ सममित्रशत्रु। २, ५
अहिंसा भूताना जगति विदित ब्रह्म परमम्। २१ ४

१९ से आयव नाणव वेयव धम्मव बम्भव पन्नाणेहिं परिजाणई लोग।
— आचारागसूत्र ३, १, २

३. कर्म की वजह से जीवन के एक नियत रूप से रचे जाने की और एक नियत मार्ग से प्रवाहित होने की मान्यता, और फिर भी पौरुष अथवा बुद्धिप्रयत्न के द्वारा स्वतन्त्र विकास की शक्यता।

ये सिद्धान्त तत्त्वज्ञानस्पर्शी है। योगस्पर्शी सिद्धान्तो मे प्रथम स्थान 'जीओ और जीने दो' की आत्मौपम्यमूलक अहिंसा का है। इस अहिंसा की दृष्टि और पुष्टि की वृत्ति में से संयम एवं तप का जो आत्मनिग्रही मार्ग विकसित हुआ वह इसके अनन्तर आता है। अपनी दृष्टि और मान्यता के जितना ही दूसरे की दृष्टि और मान्यता का सम्मान करना—ऐसी समवृत्ति मे से उत्पन्न अनेकान्त अथवा सर्वसमन्वय-वाद योगविकास का सर्वोपरि परिणाम है।

उपर्युक्त दार्शनिक एवं योगपरम्परा के मूल सिद्धान्तो का विकास पूर्णतया भारत के अधिवासी अमुक वर्ग ने ही किया है अथवा बाहर से आकर भारत मे बसे हुए किसी वर्ग का भी उसमे कमोबेश हिस्सा है इत्यादि बाते निश्चित करना कभी शक्य ही नही है, फिर भी उपलब्ध सामग्री के आधार पर विद्वान् ऐसा तो मानने लगे हैं कि आर्यो के पहले जो ऑस्ट्रिक एवं द्राविड जातिया थी उनका इस विकास मे बहुत बडा हिस्सा है।[२०] मोहन-जो-डेरो और हडप्पा आदि नगर नष्ट हुए, परन्तु इससे कुछ उनकी संस्कृति और वहा बसनेवाली जातिया नष्ट नही हुई है। लोथल आदि की अभी-अभी की खुदाई ने यह तो बता ही दिया है कि वह जाति और संस्कृति देश के अनेक भागो मे फैली हुई थी। मोहन-जो-डेरो आदि स्थानो से प्राप्त मुहर आदि के ऊपर जो आकृतिया अकित है उनमे से योग-मुद्रावाली नग्न आकृति तथा दूसरी नन्दी आदि की आकृतियों की ओर विद्वद्वर्ग का खास ध्यान जाता है और बहुत से विद्वान् ऐसा मानने के लिए प्रेरित होते है कि वे आकृतिया असल मे किसी रुद्र, महादेव अथवा वैसे किसी योगी की ही सूचक है।[२१] दूसरी ओर भारत के भिन्न-भिन्न भागो मे प्रवर्तमान अनेकविध धर्मभावनाओ के साथ उस महादेव या शिवकी उपासना प्राचीन काल से किसी-न-किसी रूप मे जुडी हुई अथवा रूपान्तरित देखी जाती है। द्रविडभाषी जो द्राविड है उनका मूल धर्म ऐसी किसी रुद्रपूजा के साथ ही संबन्धित होगा—ऐसा मानने के भी कई कारण है।[२२] भारत के पूर्व, उत्तर एवं पश्चिम भाग मे

---

२० डॉ० सुनीतिकुमार चेटर्जी का उपर्युक्त व्याख्यान पृ० ५५–६।

२१ वही।

२२ वही, 'गुजरातनो सास्कृतिक इतिहास' खण्ड १, भाग १–२ पृ० २२०, डॉ० डी० आर० भाण्डारकरकृत 'Some Aspects of Indian Culture' p 39 ff, Marshall Mohinjo-Daro and Indus Civilization, Vol I, p 53–4

श्रमण-मार्ग की जिन विविध शाखाओं का फैलावा हुआ उनके मूल में भी इस रुद्र की योग-भावना के किसी न किसी अंग का समावेश और विकास देखा जाता है यह सब देखने पर इस समय सामान्य रूप से इतना कहा जा सकता है कि योग-परम्परा के समत्वमूलक और समत्वपोषक अंगो का उद्भवस्थान सिन्धु-संस्कृति के प्रदेशों में कहीं न कहीं होना चाहिये, परन्तु उद्भवस्थान विषयक यह अस्फुट चर्चा हमें बहुत दूर नहीं ले जा सकती, फिर भी इसके प्रसार का प्रश्न उतना अटपटा और उलझन से भरा हुआ नहीं है।

२. प्रसार

दर्शन और योग की परम्परा यों तो भारत के कोने-कोने में फैली हुई देखी जाती है, परन्तु इसके प्रसार के इतिहास युग के मुख्य केन्द्र दो या तीन हैं: (१) पूर्व-भारत में मगध, उत्तर बिहार, और काशी-कोसल का केन्द्र, (२) पश्चिमोत्तर प्रदेश में तक्षशिला, शलातुर और कुरु-पञ्चाल का मध्य प्रदेश। वैदिक वाङ्मय, महाभारत रामायण, दर्शन-सूत्र और उनके कतिपय भाष्य तथा कई प्राचीन पुराण इत्यादि ब्राह्मण-प्रधान संस्कृतमय साहित्य के उद्भवस्थान अधिकांशत पश्चिमोत्तर भारत, कुरु-पाञ्चाल, काशी-कोसल और बिहार में आये हैं, तो प्राकृत भाषा में निबद्ध श्रमण-प्रधान आगम-पिटकों के उद्भवस्थान भी उत्तर-बिहार, मगध, काशी-कोसल और मथुरा आदि के आस पास ही देखे जाते हैं। सौराष्ट्र, गुजरात, राजस्थान आदि पश्चिम के भाग तथा दक्षिण एवं दूर-दक्षिण के प्रदेश में ऐसा कोई स्थान दृष्टिगोचर नहीं होता, जहां कि इतिहास युगीन संस्कृतप्रधान या प्राकृत-प्रधान साहित्य के प्राचीन स्तर की निर्मिति का निर्देश मिलता हो। इस पर से इतना सार निकाला जा सकता है कि मूल उद्भवस्थान अविदित होने पर भी दर्शन एवं योगपरम्परा के उपलब्ध संस्कृत-प्राकृत साहित्य की रचना बहुत करके पश्चिमोत्तर, मध्य एवं पूर्व देश में हुई है, और वहाँ से ही भारत के अन्य सब भागों में अनुक्रम से उसका प्रसरण हुआ है; इतना ही नहीं, भारत के बाहर भी उसका प्रभावशाली प्रसार प्राचीन समय में ही होता रहा है।[२३]

३. गुजरात के साथ सम्बन्ध

गुजरात का अर्थ यहाँ विस्तृत है। इसमें सौराष्ट्र, आनर्त तथा उत्तर एवं दक्षिण गुजरात का भी समावेश विवक्षित है। मौर्य युग से तो गुजरात के साथ दर्शन

---

२३. देखो—श्री राहुल सांकृत्यायनकृत 'बौद्ध संस्कृति।'

एव योग-परम्परा के सम्बन्ध के सूचक प्रमाण अधिकाधिक मिलते ही है,[२४] परन्तु यह सम्बन्ध एकदम अचानक मौर्य युग मे ही हुआ ऐसा नही माना जा सकता। बुद्ध-महावीर के पहले की शताब्दियो मे, पौराणिक वर्णन के कथनानुसार, यादवो का प्राधान्य द्वारका और गिरिनगर मे था। सात्वत भागवत-परम्परा के साथ संकलित है। यादवपुंगव कृष्ण तो भागवतपरम्परा के सर्वसम्मत वैष्णव अवतार माने गये है। यादवो के दूसरे एक तपस्वी नेमिनाथ जैन-परम्परा के तीर्थंकर अथवा विशिष्ट अवतार माने जाते हैं। यादववंश के प्रभाव एवं विस्तार के साथ मुख्यत वैष्णव धर्म का प्रसार पश्चिम से आगे बढकर दक्षिण आदि दूसरे देशो मे हुआ हो ऐसा लगता है। शैव-परम्परा का कोई-न-कोई प्राचीन स्वरूप गुजरात मे पहले ही से रहा है। वह सिन्धु-प्रदेश मे से गुजरात की ओर आया हो अथवा दूसरे चाहे जिस मार्ग से परन्तु इतना तो सुनिश्चित प्रतीत होता है कि गुजरात की भूमि मे शैवपरम्परा के मूल विशेष प्राचीन है।[२५] प्रभास पाटन का ज्योतिर्धाम और वैसे दूसरे पौराणिक शैवधाम यहां आये हैं तथा ग्राम, नगर एवं उच्च-नीच सभी जातियो मे शिव के सादे स्वरूप की पूजा परापूर्व से ही प्रचलित रही है। शैव परम्परा के मुख्य देव है रुद्र या महेश्वर। न्याय-वैशेषिक परम्परा मे ईश्वर को कर्ता का स्थान कब मिला यह तो अज्ञात है, परन्तु जब कर्ता के रूप मे ईश्वर ने उस परम्परा मे स्थान प्राप्त किया तब उस ईश्वर का वर्णन विष्णु या ब्रह्मा के रूप मे नही किन्तु महेश्वर या पशुपति के रूप मे मिलता है।[२६]

वैष्णव परम्परा के उत्तरकालीन तत्त्वज्ञान-विषयक विकास को देखने पर ऐसा ज्ञात होता है कि उस परम्परा का तत्त्वज्ञान साख्य-विचारसरणी के ऊपर ही रचित है।[२७] मध्व के अतिरिक्त अब तक की ऐसी कोई वैष्णव परम्परा नही दिखाई पडती, जिसके तत्वज्ञान के मूल सिद्धात साख्य-परम्परा को छोड दूसरी किसी परम्परा मे से लिए गए हो। शैव परम्परा की अधिकाश शाखाओ का सम्बन्ध न्याय-वैशेषिक परम्परा के साथ रहा है। जैन-परम्परा का तत्त्वज्ञान यो तो साख्य और न्याय-वैशेषिक परम्परा से सर्वथा स्वतत्र है, फिर भी उसके अनेक अंश ऐसे है जिनमे

---

२४. देखो गिरनारके शिलाखण्ड पर उत्कीर्ण अशोकका शिलालेख।

२५ देखो 'शैवधर्मनो सक्षिप्त इतिहास' पृ० १२६, 'गुजरातनो सास्कृतिक इतिहास' खण्ड १, भाग १–२, पृ० २२१, २२६–३२।

२६ देखो 'प्रशस्तपादभाष्य' गत सृष्टिप्रक्रिया।

२७ देखो 'भारतीय तत्त्वविद्या' पृ० ५७–८, १२३, १३४–५।

साख्य एव न्याय-वैशेषिक परम्परा की मान्यताओ का समन्वय भी है। [२८] यह सब देखने पर ऐसा मालूम होता है कि बुद्ध-महावीर के पहले के समय मे वैष्णव, शैव एवं जैन परम्परा के जो स्वरूप होगे उनमे साख्य, न्याय-वैशेषिक और जैन तत्त्वज्ञान की कोई-न-कोई विचारणा संकलित होनी चाहिए। वैदिक परम्परा का प्रधान स्तम्भ तो है क्रियाकाण्ड-प्रधान पूर्व मीमासा। बुद्ध-महावीर के पहले के समय मे इस मीमासा ने गुजरात मे स्थान पाया हो ऐसा नही दीखता। मुख्यतया उपनिषद् के ऊपर अधिष्ठित उत्तर मीमासा तो उत्तरकालीन है, अत उस पौराणिक युग में गुजरात के साथ उसके सम्बन्ध का खास प्रश्न उठता ही नही है। इस पर मे कहने का सार इतना ही है कि पुरातन युग मे गुजरात के प्रदेशो मे जो जो तत्वज्ञान की पद्धतियाँ प्रचलित थी वे प्राय सभी वैदिकेतर थी। [२९]

योगपरम्परा के साधना-अङ्ग अनेक है, परन्तु उनमे अहिंसा, तप एवं ध्यान जैसे अङ्ग प्रधान है। भक्ति-प्रधान वैष्णव-भागवत, तपः प्रधान शैव भागवत अथवा अहिंसा-सयम-प्रधान निर्ग्रन्थ – ये सभी परम्पराएँ योग के भिन्न-भिन्न अंगो पर अल्पाधिक भार दे करके ही विकसित होती रही है। अतएव इन परम्पराओ के साथ ही योग-परम्परा सकलित थी, इसमे शका नही है। इस तरह बुद्ध-महावीर के पहले के युग के गुजरात का अस्फुट चित्र ऐसा अंकित होता है कि जिसमे तत्त्वज्ञान की दृष्टि से सभी प्रसिद्ध वैदिकेतर परम्पराएँ रही हो और योग तो उन सभी परम्पराओ मे किसी-न-किसी रूपसे सकलित रहा हो।

परन्तु लगभग बुद्ध-महावीर के समय से अथवा तो उनके कुछ ही वर्ष पीछे से गुजरात का चित्र ही अधिक स्पष्ट व सुरेख दिखाई देता है। चन्द्रगुप्त मौर्य ने गिरिनगर मे सुदर्शन सरोवर बँधाया। [३०] चन्द्रगुप्त की राजधानी तो पाटलीपुत्र और

२८, देखो 'दर्शन और चिन्तन' पृ० ३६०, 'प्रमाणमीमासा' प्रस्तावना (सिंघी जैन ग्रन्थमाला) पृ० १०।

२९ 'पुराणोमा गुजरात' पृ० ३९ पर श्री ध्रुव का जो मत उद्धृत है वह देखो। 'बोधायन' मे निषिद्ध देशो की तालिका मे आनर्त का भी समावेश किया गया है। इससे वहा आर्येतरोका प्राधान्य सूचित होता है। देखो 'गुजरातनी कीर्तिगाथा' पृ० ३५ तथा श्रीदुर्गाशकरकृत 'भारतीय सस्कारो अने तेनु गुजरातमा अवतरण' पृ० २०९ से।

३० देखो—श्री विजयेन्द्रसूरि 'महाक्षत्रप राजा रुद्रदामा' मे रुद्रदामा का शिलालेख पृ० ८, तथा श्री रसिकलाल छो० परीख 'काव्यानुशासन' भा० २, प्रस्तावना पृ० २६।

अर्थशास्त्र मे भी सौराष्ट्रका उल्लेख है। देखो 'गुजरातनो सास्कृतिक इतिहास' खण्ड १, भाग १–२, पृ० २७।

इतनी दूर गिरिनगर के साथ उसका सम्बन्ध – यह तनिक अचरज-सा मालूम होता है। शायद वह सम्बन्ध केवल राजकीय होगा, परन्तु पूर्ववर्ती नन्दों और उसके पौत्र अशोक आदि के जीवन का जब हम विचार करते हैं और राजकीय सम्बन्ध के साथ पहले ही से चले आनेवाले धार्मिकता के अनिवार्य संसर्ग के विषय मे जब हम सोचते हैं, तब कम से कम ऐसा मानने मे कोई अडचन नहीं है कि गुजरात के साथ चन्द्रगुप्त का जो सम्बन्ध था उसमे धर्म-परम्परा का भी कुछ-न-कुछ प्रभाव होना चाहिए। परन्तु वह चाहे सो हो, उसके पौत्र अशोक मौर्य के धर्मशासन यह स्पष्ट रूप से सूचित करते है कि अशोक की सत्ता गुजरात पर थी,[31] परन्तु वह केवल राजकीय नही थी; उसमे धार्मिकता का भाग मुख्य था। अशोक तथागत बुद्ध का पक्का अनुयायी था, परन्तु वह कट्टर साम्प्रदायिक नही था उसकी उदारता विश्व-इतिहास मे अद्वितीय थी, ऐसा उसके धर्मशासन कहते है।[32] अशोक के धर्मशासनो पर से इतना कहा जा सकता

---

३१ देखो—श्री रसिकलाल छो० परीख 'काव्यानुशासन' भाग २, प्रस्तावना पृ० २५–६, मूल लेख के लिए देखो भरतराम भा० मेहता 'अशोकना शिलालेखो।'

३२ देवो का प्रिय प्रियदर्शी राजा सब पाखण्डो को (सम्प्रदायके लोगो को) तथा प्रव्रजितो (साधुओ) को तथा गृहस्थो को दान से एव विविध पूजा से पूजता है। परन्तु सब पाखण्डो (सम्प्रदायो) के सार की वृद्धि (देवो के प्रिय प्रियदर्शी राजा को जैसी लगती है) वैसे दान और पूजन देवो के प्रिय (प्रियदर्शी राजा) को नही लगते। परन्तु (यह) सार की वृद्धि अनेक प्रकार की है; और उसका मूल वाचागुप्ति (बोलने मे सभालना) है। अपकारण से (तुच्छ कारण से) परपाखण्डगर्हणाद्वारा (दूसरो के सम्प्रदायकी निन्दा करके) आत्मपाखण्डपूजा (अपने सम्प्रदायकी पूजा) न हो (अच्छी नही)। प्रकारण से (योग्य कारण से) यह लघूकृत हो सकती है (उसकी निन्दा की जा सकती है। परन्तु तो भी उसे प्रकारण से (योग्य कारण से) परपाखण्ड की (दूसरे के सम्प्रदाय की) पूजा करनी चाहिए।

ऐसा करने पर वह अपने सम्प्रदायको बढायगा, और दूसरे के सम्प्रदाय पर उपकार करेगा। इससे अन्यथा (उलटा) करने पर वह अपने सम्प्रदायको क्षीण करेगा (नष्ट करेगा) और दूसरे के सम्प्रदाय पर भी अपकार करेगा। इसके अतिरिक्त 'मैं अपने सम्प्रदाय की शोभा बढाता हू, ऐसा समझकर जो कोई भी अपने सम्प्रदाय को पूजता है, और केवल अपने सम्प्रदायकी भक्ति से (भक्ति के कारण) दूसरे सम्प्रदाय की गर्हणा (निन्दा) करता है वह वैसा करने से अपने सम्प्रदाय की बहुत भारी हानि करता है।

अन्यमनस् के (भिन्न धर्म के ऊपर मन लगाने वाले मनुष्य के) धर्म को सुनना तथा (उसकी) शुश्रूषा करना यही अच्छा (समवाय अथवा) सयम है। देवो के प्रिय (प्रियदर्शी राजा की यही इच्छा है कि सब पाखण्ड (सम्प्रदाय के लोग) बहुश्रुत (बहुज्ञानी) तथा कल्याणागम (कल्याण की ओर जाने वाले, कल्याणसाधक) बनें। जो वहा-वहा (अपने-अपने सम्प्रदाय मे) प्रसन्न हो उनसे कहना (कि) सब सम्प्रदायो के सार की महती वृद्धि (देवो के प्रिय प्रियदर्शी राजा को जैसी लगती है) वैसे दान और पूजन देवो के प्रिय (प्रियदर्शी राजा) को नही लगते। —अशोक के शिलालेख मे १२ वा शासन

है कि उस काल मे सौराष्ट्र मे अनेक धर्म-पंथ प्रवर्तमान थे। उनमे से जैन[३३] और बौद्ध के अस्तित्व के बारे मे तो प्रश्न ही नही है, परन्तु ऊपर जिनका उल्लेख किया है वे वैष्णव एवं शैव आदि इतर पौराणिक धर्म भी प्रवर्तमान होने चाहिएं। प्राकृत भाषा द्वारा उसने अपने राज्य के दूसरे अनेक भागो की प्रजा को जिस धर्म के अनुपालन का उद्बोधन किया है वह मुख्यतया मानव-धर्म है,[३४] कोई विशिष्ट पांथिक धर्म नही, और मानव-धर्म की सच्ची नीव तो योग के अंगो पर अविष्ठित है। बुद्ध ने

---

३३ जैन आगम 'उत्तराध्ययन' (अ० २२), 'अतगड' आदि मे उल्लिखित जैन परम्परा के अनुसार बाईसवें तीर्थंकर नेमिनाथ और उनके भाई रथनेमि आदि तपस्वियो का सम्बन्ध सौराष्ट्र के साथ है ('काव्यानुशासन भा० २, प्रस्तावना पृ० २१)। अशोक के पौत्र सम्प्रति ने उज्जयिनी मे रह कर जब मौर्यशासन चलाया तब उसने पितृपरम्परा के देशो मे जैन-धर्म का विशेष प्रचार एव प्रसार किया। उन देशो मे आन्ध्र, द्रविड आदि नये प्रदेश भी आते है ('बृहत्कल्प' गाथा ३२७५–८६, 'निशीथ' गाथा २१५४, ४४६३–६५, ५७४४–५८, 'निशीथ एक अध्ययन' पृ० ७३) मतलब कि उसे आधुनिक मालवा, गुजरात, सौराष्ट्र, राजस्थान जैसे प्रदेशो मे नया प्रचार करने की आवश्यकता नही थी। कालकाचार्य की शकशाहियो को बसाने की कथा प्रसिद्ध है ('निशीथ' गा० २८६०), आचार्य धरसेन के पास गिरनार पर दक्षिण देश के जैन साधु अध्ययन करने के लिए आये थे ऐसी बात दिगम्बरीय परम्परा मे सुविख्यात है ('धवला' प्रथम भाग, प्रस्तावना), नयचक्र के प्रसिद्ध प्रणेता मल्लवादी और उनके गुरु का वलभी के साथ का सम्बन्ध कथाओ मे निर्दिष्ट है ('प्रभावक-चरित्र' प्रबन्ध १०) और वलभी मे जैन आगमो की वाचना वहा जैन परम्परा के प्राचीन दृढमूल अस्तित्व की सूचक है, वलभी मे 'विशेषावश्यकभाष्य' के कर्ता जिनभद्र हुए थे ('भारतीय विद्या' ३–१, पृ० १९१)—इन सब बातो को ध्यान मे लेने पर सौराष्ट्र मे जैन धर्म का प्रचार प्रागैतिहासिक काल से किसी न किसी रूप मे चला आता था ऐसा कहा जा सकता है। यद्यपि प्राचीन शिलालेखीय अथवा ताम्रपत्रीय सामग्री उपलब्ध नही हुई है, तथापि साहित्यिक परम्परा के आधार पर यह बात सिद्ध हो सकती है। विशेष के लिए देखो 'मैत्रककालीन गुजरात' पृ०४१६–२७।

३४ "‥ साधु मातरि च पितरि च सुस्रूसा मितासस्तुतज्ञातीन बाम्हणसमणान साधु दान प्राणान साधु अनारभो अपव्ययता अपभाडता साधु . .।"

—अशोक के शिलालेख मे तीसरा शासन

" . . अनारभो प्राणान अविहीसा भूतान ज्ञातीन सपटिपती ब्रह्मणसमणान सपटिपती मातरि पितरि सुसुसा थैरसुसुसा . ।"

—अशोक के शिलालेख मे चौथा शासन

" . . तत इद भवति दासभतकम्हि सम्यप्रतिपती मातरि पितरि साधु सुस्रुसा मित-सस्तुतञातिकान ब्राह्मणसमणान साधु दान प्राणान अनारभो साधु . .।"

—अशोकके शिलालेखमे ग्यारहवाँ शासन

इन मूल उद्धरणो के अतिरिक्त बत्तीसवी पादटीप मे दिये गये बारहवें शासन के अनुवाद पर से भी अशोक के धर्म-विषयक व्यापक दृष्टि-बिन्दुका ख्याल आ सकता है।

अपने उपदेशो में अधिक भार दिया है तो वह योग के अंगो पर ही।[३५] अत गुजरात मे योग-परम्परा का व्यावहारिक चित्र अशोक की धर्म-लिपियो मे दृष्टिगोचर होता है। इसके साथ ही जब हम जैन आदि इतर परम्पराओ का विचार करते है तब ऐसा प्रतीत होता है कि अशोककालीन गुजरात मे इतर परम्पराएँ भी मानव-धर्म के ऊपर अधिक भार देती होगी। परन्तु अशोक के अनन्तर जब शकयुग आता है और उसमे रुद्रदामा का शासन शुरू होता है तब उस तत्त्वज्ञान और योग-परम्परा के चित्र मे अधिक उभार नजर आता है।

ईसा की दूसरी शती का रुद्रदामा का वह सुश्लिष्ट संस्कृत भापा मे निबद्ध लेख मानव धर्म के विशेप परिपालन की बात तो कहता ही है,[३६] साथ ही न्याय-वैशेषिक एवं व्याकरण आदि शास्त्रो के ज्ञाता के रूप मे भी उसका निर्देश करता है।[३७] शक होने पर भी एक तो आर्यभाषा संस्कृतमय नाम और उसमे भी शिव का रुद्र के रूप मे निर्देश तथा लेखगत विशेषणो मे से फलित होने वाला उसका दार्शनिक ज्ञान—इन सबसे यही सूचित होता है कि अशोक ने बुद्ध भगवान् की सहज प्राकृत भाषा द्वारा जो घोषणा की थी उसे कार्यान्वित करने का प्रयत्न शक-सेनापति और सम्भवत रुद्रभक्त रुद्रदामा ने किया और उसे संस्कृत भाषा द्वारा अचल पद भी दिया।

इसके अतिरिक्त अशोक के धर्म के विपय मे देखो डॉ. देवदत्त रामकृष्ण भाण्डारकर रचित और भरतराम भा मेहता द्वारा गुजराती मे अनूदित 'अशोक चरित' प्रकरण ४।

धृति क्षमा दमोऽस्तेय शौचमिन्द्रियनिग्रह ।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशक धर्मलक्षणम् ॥ ६ ९२ ॥ —मनुस्मृति

अहिंसा सत्यमस्तेय शौचमिन्द्रियनिग्रह ।
एत सामासिक धर्म चातुर्वर्ण्येऽब्रवीन्मनु ॥ —मनुस्मृति

विशेष के लिये देखो 'मानवधर्मसार' पृ० ५६–७।

३५ इसी लेखक की पुस्तक 'अध्यात्मविचारणा' का अध्यात्मसाधना नामक प्रकरण, विशेषतया पृ १०२ से।

३६. यथार्थहस्तो(१३) च्छ्रार्योजितोर्जितधर्मानुरागेण शव्दार्थगान्धर्वन्यायाद्याना विद्याना महतीना पारणधारणविज्ञानप्रयोगावाप्तविपुलकीर्तिना तुरगगजरथचर्यासिचर्मनियुद्धाद्या.. ... [ति] परवललाघवसौष्ठवक्रियेण अहरहर्दानमानान(१४)वमानशीलेन स्थूललक्षेण यथावत्प्राप्तैर्वलिशुल्कभागै कनकरजतवज्रवैडूर्यरत्नोपचयनिष्यन्दमानकोशेन स्फुटलघुमधुरचित्रकान्तशव्दसमयोदारालकृतगद्यपद्य...न प्रमाणमानोन्मानस्वरगतिवर्णसारसत्त्वादिभि (१५) परमलक्षणव्यंजनैरुपेतकान्तमूर्त्तिना स्वयमधिगतमहाक्षत्रपनाम्ना नरेन्द्रकन्यास्वयवरानेकमाल्यप्राप्तदाम्न् [आ] महाक्षत्रपेन रुद्रदाम्ना ...

[१९] पह्लवेन कुलैपपुत्रेणामात्येन सुविशाखेन यथावदर्थधर्मव्यवहारदर्शनैरनुरागमभिवर्धयता शक्तेन दान्तेनाचपलेनाविस्मितेनार्य्येणाहार्येण (२०) स्वधितिष्ठता धर्मकीर्तियशासि भर्तुरभिवर्द्धयतानुष्ठितमिति। —गिरनार का रुद्रदामा का शिलालेख

गिरिनगर के पश्चात् तुरन्त ही सौराष्ट्र मे वलभीपत्तन हमारा ध्यान आकर्षित करता है। वलभी का आर्थिक, राजकीय, सास्कृतिक एवं धार्मिक इस प्रकार चतुर्विध अभ्युदय, उत्तरोत्तर वर्धमान दशा मे, मैत्रक राजाओ के राज्यकाल मे उनके ताम्रपत्र आदि के द्वारा हमे ज्ञात होता है।[३८] मैत्रकों का राज्य ४७० ई० से शुरू होता है, परन्तु वलभी के उत्कर्ष की नीव तो बहुत पहले ही से पड चुकी थी। इसीसे एक अथवा दूसरे कारणवश गिरिनगर का वर्चस्व कम होने पर वलभीपत्तन उसका स्थान लेता है और इसीलिए हम देखते है कि जैन, बौद्ध और वैदिक परम्परा के विद्वान् और भिक्षुक वलभी मे अनेकविध सास्कृतिक और धार्मिक प्रवृत्तियो के पोषण के लिए प्रश्रय पाते है।[३९] वलभी मे वैदिक विद्वान् दान लेते दिखाई पडते हैं,[४०] जैन और बौद्धो की विद्याशालाएँ तथा धर्मस्थान गौरव एव वैभव के समुन्नत शिखर पर प्रतिष्ठित होते है और राजा एव धनाड्य उनका बहुत ही सत्कार-पुरस्कार करते हैं।[४१] जहाँ ऐसा वातावरण न हो वहाँ स्वाभाविक रूप से ही बडी संख्या मे विविध परम्पराओ के विद्वान् और सघ न तो आने के लिए और न स्थिरवास करने के लिए लालायित हो सकते है। वैदिक, बौद्ध एव जैन परम्परा की विद्या-त्रिवेणी वलभी मे प्रवाहित हुई थी। इसके परिणाम-स्वरूप इतर साहित्य के अतिरिक्त दर्शन एव योग परम्परा का साहित्य भी वलभी मे ठीक ठीक मात्रा मे रचा गया। वहाँ रचित, विवेचित और समीक्षित दार्शनिक एव योग-परम्परा के ग्रन्थो का सम्पूर्ण ख्याल आ सके ऐसे विश्वस्त उल्लेख यद्यपि इस समय उपलब्ध नही है, तथापि जो कोई विश्वसनीय उल्लेख मिलते हैं उन पर से इतना तो कहा जा सकता है कि वैदिक परम्परा के विद्वानो ने वलभी क्षेत्र मे दर्शन एव योग-परम्परा के बारे मे यदि कुछ लिखा होगा, तो भी वह इस समय तो अज्ञात है। बौद्ध-परम्परा के विशिष्ट भिक्षुओ ने वहाँ ठीक-ठीक रचनाएँ की होगी, क्योकि ह्यु एनसाग के कथनानुसार वहाँ बौद्ध भिक्षुको का बहुत बडा समुदाय रहता था और वहाँ बडे-बडे विहार भी थे। आज तो उन बौद्ध विद्वानो मे से दो के नाम निर्विवाद रूप से ज्ञात है, जिन्होने वलभी क्षेत्र मे रह कर दार्शनिक रचना की हो। वे दो हैं गुणपति और स्थिरमति। ह्यु एनसाग ने

---

३७ देखो रुद्रदामा के उपर्युक्त शिलालेख की १३वी पक्ति मे आये हुए ये शब्द · 'शब्दार्थगान्धर्वन्यायाद्याना विद्याना महतीना' इत्यादि।

३८ देखो डॉ हरिप्रसाद शास्त्रीकृत 'मैत्रककालीन गुजरात' भाग २, तथा 'गुजरातनो सास्कृतिक इतिहास' पृ ४४।

३९ 'मैत्रककालीन गुजरात' मे धार्मिक परिस्थिति पृ ३३९ से।

४० वही, पृ० ३५५ और उसका परिशिष्ट न० ३, पृ० ६८९।

४१ वही, बौद्धधर्म के लिए पृ० ३८५ से और जैन धर्म के लिए पृ० ४१६ से।

इन दोनो विद्वानो का निर्देश किया है।[४२] गुणमति और स्थिरमति ने जिन छोटे-बड़े ग्रन्थो की रचना की होगी वे दार्शनिक ग्रन्थ खास करके बौद्ध दर्शन के होगे। यदि सुप्रसिद्ध बहुश्रुत विद्वान् शान्तिदेव, जैसा समझा जाता है उस तरह, सौराष्ट्र के हों तो सम्भवत. उनकी प्रवृत्ति का केन्द्र, समय की दृष्टि से विचार करने पर, वलभी क्षेत्र होगा। वलभी हो या दूसरा कोई स्थान, परन्तु शान्तिदेव ने गुजरात मे अपनी कृतिया रची हो तो ऐसा कहा जा सकता है कि उनकी सुप्रसिद्ध तीनो कृतियाँ,[४३] जो कि बौद्ध दर्शन-परम्परा की है, मैत्रककालीन विशिष्ट सम्पत्ति हैं।

अशोक के शासनकाल से लेकर वलभी के भंग तक के लगभग एक हजार वर्षों मे रचित दर्शन एव योग-विषयक ज्ञात-अज्ञात कृतियो का जब हम विचार करते है तब हमारा ध्यान मुख्य रूप से जैन कृतियाँ ही आकर्षित करती है। मगध मे रचित और सुरक्षित तथा मथुरा मे सुसंकलित हुए जैन आगम-साहित्य की दो वाचनाएँ वलभी क्षेत्र मे ही हुई है।[४४] जो जैन आगम-साहित्य आज उपलब्ध है वह समग्र साहित्य है तो प्राकृत मे, परन्तु उसमे मुख्य विषय तो दर्शन एवं योग अर्थात् चारित्र्य का ही है। ये ग्रन्थ वलभी क्षेत्र मे संशोधित एवं सुव्यस्थित होने से उनकी मौलिक रचना का श्रेय वलभी क्षेत्र अथवा गुजरात के हिस्से मे नही आता, फिर भी वलभी क्षेत्र मे विहार करने वाले और बसने वाले अनेक धुरन्धर जैन विद्वानो द्वारा रचित दार्शनिक और योगविषयक कृतियाँ प्राकृत एवं संस्कृत मे आज भी उपलब्ध है। श्री जिनभद्र-गणी क्षमाश्रमण का प्राकृत विशेपावश्यकभाष्य, उस पर की स्वोपज्ञ संस्कृत-वृत्तिके साथ, एक ही ऐसा आकर-ग्रन्थ है कि जिसमें जैन दर्शन को केन्द्र मे रखकर भारतीय दर्शनो की स्पष्ट चर्चा की गई है और जिसमे ध्यान, योग या चारित्र्य के वारे मे भी विशद चर्चा है।[४५] श्रीमल्लवादिकृत नयचक्र और उस पर की श्री सिंहगणी क्षमाश्रमण की[४६] विस्तृत व्याख्या भी वैसा ही एक दार्शनिक आकर-ग्रन्थ है। उस मे जैन दर्शन के मुख्य सिद्धान्त नय और अनेकान्तवाद के आसपास लगभग सभी भारतीय दर्शनो के मुख्य-मुख्य मन्तव्योका तार्किक दृष्टि से गुम्फन किया गया है। इन

---

४२ 'मैत्रककालीन गुजरात' पृ० ३८५।

४३ वोधिचर्यावतार, शिक्षासमुच्चय और सूत्रसमुच्चय।

४४. 'वीरनिर्वाण सवत् और जैनकालगणना' पृ० ११०।

४५. 'भारतीय विद्या' ३ १, पृ० १९१, तथा उन्ही का 'ध्यानशतक'।

४६ देखो 'आत्मानन्द प्रकाश' मे प्रकाशित मुनि श्री जम्बूविजयजी का लेख, वर्ष ४५, अक ७।

दो ग्रन्थोका उल्लेख तो इसलिए यहाँ किया गया है कि उसमे सौराष्ट्रने दर्शन और योग-परम्परा मे जो सिद्धि पाई है उसका कुछ आभास मिल सके।[४७]

वलभी क्षेत्र के पश्चात् वडनगर (आनन्दपुर) और भिन्नमाल ये दो गुजरात के नगर हमारा ध्यान आकर्षित करते हैं। इसमे कोई सन्देह नही है कि वडनगर ने आठवी शताब्दी के पूर्व भी किसी-न-किसी प्रकार की साहित्यसिद्धि प्राप्त की होगी, क्योकि वह भी गिरिनगर की भाँति विद्याव्यासंगी और बुद्धिशील नागर जाति का एक केन्द्र रहा है।[४८] जैन-परम्परा का भी इस नगर के साथ विशिष्ट सम्बन्ध पहले ही से रहा है,[४९] फिर भी आठवी शती तक इस नगर मे दर्शन और योग परम्पराविषयक छोटी-बडी जैन या जैनेतर कृति की रचना हुई हो तो वह अज्ञात है। अत अब हम भिन्नमाल की ओर दृष्टिपात करें।

भिन्नमाल तत्कालीन गुजरात की एक राजधानी थी। इस नगर का इतिहास तो विशेष प्राचीन है,[५०] परन्तु इसका गौरव बढते-बढ़ते इतना बढ गया कि ह्यु एनसाग वलभी की भाँति इसका भी विस्तार से वर्णन करता है।[५१] यहाँ वैदिक, बौद्ध एवं जैन इन तीनो परम्पराओ की अनेकविध शाखाएँ विद्यमान थी। प्रत्येक शाखा के विद्वान् यहाँ आकर बसे थे और विद्याप्रवृत्ति चलाते थे। भिन्नमाल क्षेत्र मे रचित ज्योतिष, काव्य, कथा आदि अनेक विषयक ग्रन्थ-रत्न आज भी उपलब्ध है। इस क्षेत्र मे जावालिपुर का भी समावेश करना चाहिए। इस क्षेत्र मे संस्कृत और प्राकृत भाषा मे रचित अनेक कृतियाँ मिलती है।[५२] इनमे ऐसी भी कृतियाँ हैं जिनका सम्बन्ध

---

४७. देखो 'विद्याकेन्द्र वलभी के विषय मे 'काव्यानुशासन' भा० २, प्रस्तावना, पृ० ७५।

४८ देखो 'नागर' के विषय मे 'गुजरातनो सास्कृतिक इतिहास' खण्ड १, भाग १–२, पृ० १९६।

४९ 'निशीथचूर्णि' (गा ३३४४) मे इस नगरी को आनन्दपुर तथा अक्कत्थली कहा है। देखो 'निशीथ . एक अध्ययन' पृ० ७४।

५०. देखो 'गुजरातनी राजधानीओ' पृ० ९२; 'गुजरातनो सास्कृतिक इतिहास' खण्ड १, भाग १–२ पृ० ४४ से।

५१. देखो 'गुजरातनी राजधानीओ' पृ० १०२, 'गुजरातनो सास्कृतिक इतिहास' खण्ड १, भाग १–२, पृ० ६०।

५२ 'गुजरातनी राजधानीओ' पृ० १०३। उसमे 'कुवलयमाला' की रचना भिन्नमाल मे हुई थी ऐसा लिखा है, परन्तु वह सुधारना चाहिए, क्योकि उसकी रचना जावालिपुर मे हुई है। इसके अतिरिक्त जावालिपुर मे जिनेश्वरसूरि ने 'अष्टकप्रकरणवृत्ति' एव 'चैत्यवन्दनविवरण' की तथा बुद्धिसागराचार्य ने व्याकरण की भी रचना की है। 'कान्हडदेप्रबन्ध' आदि भी वहीं रचे गये हैं।

केवल दर्शन और योग की परम्परा के साथ ही है। ऐसी उपलब्ध कृतियाँ मुख्य रूप से आचार्य हरिभद्र की है। हरिभद्र के अतिरिक्त अन्य बौद्ध, जैन और वैदिक विद्वानो ने इन विषयों के ऊपर कुछ-न-कुछ रचना की होगी ऐसी धारणा रखना सर्वथा अनुपयुक्त नही है, परन्तु आठवी शताब्दी तक इस क्षेत्र मे रचित और विद्वानो का ध्यान आकर्षित करे ऐसी दर्शन और योग-परम्परा-विषयक कृतियाँ तो आचार्य हरिभद्र की ही है। अतएव अब हम यह सोचे कि दर्शन एवं योग-परम्परा के विचार-विकास मे आचार्य हरिभद्र का स्थान क्या है और वह कैसा है ?

४. आचार्य हरिभद्र का स्थान

आचार्य हरिभद्र के समय तक देश का ऐसा कोई भी भाग दृष्टिगोचर नही होता जहाँ कि दार्शनिक एवं योग के विचारो के छोटे-बडे अखाड़े न चलते हो। हरिभद्र के पूर्ववर्ती और समकालीन ऐसे अनेक जैन-जैनेतर विद्वान् हुए है, जिनकी विचारसूक्ष्मता, वक्तव्य की स्पष्टता और बहुश्रुत तार्किकता हरिभद्र से भी बढकर है। वैसे ही विशिष्ट विद्वानो की समर्थ कृतियो के अध्ययन और परिशीलन के आधार पर ही हरिभद्र के मानसिक-आध्यात्मिक व्यक्तित्वका निर्माण हुआ है। ऐसा होने पर भी जब दर्शन और योग-परम्परा के विकास मे हरिभद्र की क्या देन है अथवा उसमे दूसरे किसी ने न दिखाई हो वैसी कौनसी नवीनता का उन्होने समावेश किया है यह कहना हो तब तो हरिभद्र के पूर्वकालीन तथा उत्तरकालीन आचार्यो की दृष्टि के साथ उनकी दृष्टि की तुलना करने पर ही कुछ यथार्थ विधान किया जा सकता है। इस दृष्टि से जब मै वैसी तुलना करता हूँ, तब मुझे असन्दिग्ध रूप से प्रतीत होता है कि हरिभद्र ने जो उदात्त दृष्टि, असाम्प्रदायिक वृत्ति और निर्भय नम्रता अपनी कृतियो मे प्रदर्शित की है वैसी उनके पूर्ववर्ती अथवा उत्तरवर्ती किसी भी जैन-जैनेतर विद्वान् ने शायद ही प्रदर्शित की हो।

हरिभद्र ने दर्शन और योग-परम्परामे जो योग-दान किया है अथवा उसमे जो नव्यता लाने का प्रयत्न किया है उसकी भूमिका ऊपर सूचित उनकी दृष्टि और वृत्ति मे रही है। यह दृष्टि और यह वृत्ति सक्षेप मे निम्नलिखित पाँच गुणो के द्वारा प्रकट होती है—

१ समत्व – आध्यात्मिकता का परम लक्ष्य समभाव या निप्पक्षता है। हरिभद्र ने अपने दर्शन और योग के ग्रन्थो मे इसे किस हद तक साधा है यह हम आगे देखेगे।

२ तुलना – हरिभद्र ने परापूर्व से प्रचलित खण्डन-मण्डन की परिपाटी मे तुलना-दृष्टि को जो और जैसा स्थान दिया है वह और वैसा स्थान उनके पूर्ववर्ती, समवर्ती

अथवा उत्तरवर्ती किसी ग्रन्थ में मेरे देखने में आया नहीं है। सत्य या मन्तव्य के अधिकाधिक समीप पहुँचा जा सके इस हेतु से उन्होंने परवादी के मन्तव्यों के हृदय में अधिक से अधिक गहरा उतरने का प्रयत्न किया है और अपने मन्तव्यके साथ वह परवादीका मन्तव्य, परिभाषाभेद अथवा निरूपणभेद होने पर भी, किस तरह साम्य रखता है— यह उन्होंने स्वपरमतकी तुलना द्वारा अनेक स्थानों पर बताया है। परमतकी समालोचना करते समय कदाचित् उसे अन्याय हो जाय ऐसी पापभीरु वृत्ति उन्होंने उस तुलना में जिस प्रकार दिखलाई है वैसी वृत्ति शायद ही किसी अन्य विद्वान् ने दिखलाई हो।

३. बहुमान वृत्ति— अतीन्द्रिय और शास्त्रीय परम्परागत तत्त्वोंकी समालोचना करने में अनेक भयस्थान रहे हुए हैं। वैसे भयस्थानोंको पार करके कोई समालोचना करे, उस समय भी प्रत्येक बात में परपरम्परा के मन्तव्यों के साथ सर्वथा सम्मत हो जानेका काम बहुत कठिन होता है। ऐसी स्थिति हो तब भी हरिभद्र, परवादीके मन्तव्योंसे वह अलग पड़ने पर भी, उनके प्रति जो विरल बहुमान और आदर प्रदर्शित करते हैं उसका आध्यात्मिक क्षेत्र में विरल प्रदान कहा जा सकता है। सत्य के समर्थन का और आध्यात्मिकता का दावा करनेवाले किसी भी जैन-जैनेतर विद्वान् ने अपने विरोधी सम्प्रदाय के प्रवर्तक या विद्वान् के प्रति हरिभद्रने दिखलाया है वैसा बहुमान यदि दिखलाया हो तो वह मैं नहीं जानता।

४. स्वपरम्परा को भी नई दृष्टि और नई भेंट— सामान्यतः दार्शनिक विद्वान् अपनी समग्र विचारशक्ति या पाण्डित्यबल परपरम्परा की समालोचना में लगा देते हैं और अपनी परंपराको कहने-जैसा सत्य स्फुरित होता हो, तब भी वे स्वपरम्परा के दोष का सामना करने की साहसवृत्ति नहीं दिखलाते और उस बारे में जैसा चलता है वैसा चलते रहने देने की वृत्ति रखकर अपनी परम्पराको ऊपर उठाने का अथवा उसकी [illegible] कमी दिखलाने का शायद ही प्रयत्न करते हैं। किन्तु हरिभद्र इस बारे में भी सर्वथा निराले हैं। उन्होंने परवादियों के अथवा परपरम्पराओं के साथ के व्यवहार में जैसी तटस्थवृत्ति और निर्भयता दिखलाई है वैसी ही तटस्थवृत्ति और निर्भयता स्वपरम्परा के प्रति कई मुद्दे उपस्थित करने में भी दिखलाई है। यह हम आगे देखेंगे।

५. अन्तर मिटाने का कौशल— सामान्यतः बड़े-बड़े और असाधारण विद्वान् जब चर्चा में उतरते हैं अथवा कुछ लिखते हैं तब उसमें विजिगीषा तथा स्वपरम्परा को श्रेष्ठ स्थापित करने की भावना कुछ इसमें रहती है, जिससे सम्प्रदाय-सम्प्रदाय के

बीच और एक ही सम्प्रदाय की विविध शाखाओ के बीच बहुत बडा मानसिक अन्तर पड जाता है। वैसे अन्तर के कारण विरोधी पक्ष मे रही हुई ग्रहण करने जैसी उदात्त वस्तुओ को भी शायद ही कोई ग्रहण कर सकता है। इसके परिणाम-स्वरूप परिभाषाओं की शुष्क व्याख्या और शाब्दिक धोखाधडी एवं विकल्प-जाल के आवरण मे सत्य की साँस घुट जाती है। यह स्थिति हरिभद्र के सूक्ष्म अन्तश्चक्षुने देखी। फलत उन्होने विरल कहे जा सके ऐसे अपने दर्शन और योग-परम्परा के ग्रन्थो मे ऐसी शैली अपनाई है कि जैन-परम्परा के मौलिक सिद्धान्त जैनेतर परम्पराएँ उनकी अपनी परिभाषा मे सरलता से समझ सके और जैनेतर बौद्ध या वैदिक परम्परा के अनेक मन्तव्य अथवा सिद्धान्त जैन परम्परा भी समझ सके. विरोधी समझे जानेवाले और विरोध को पोसनेवाले भिन्न-भिन्न सम्प्रदायो के बीच हो सके उतना अन्तर कम करने का योगिगम्य मार्ग हरिभद्र ने विकसित किया है, और सब-कोई एक-दूसरे मे से विचार एव आचार उन्मुक्त मन से ग्रहण कर सके ऐसा द्वार खोल दिया है, जो सचमुच ही विरल है।

इस प्रकार आचार्य हरिभद्र ने दार्शनिक और योग-परम्परा मे विचार एवं वर्तन की जो अभिनव दिशा उद्घाटित की है वह खास करके आज के युग के असाम्प्रदायिक एवं तुलनात्मक-ऐतिहासिक अध्ययन मे अत्यन्त उपकारक सिद्ध हो सकती हैं।

व्याख्यान तीसरा

दार्शनिक परम्परा में आचार्य हरिभद्र की विशेषता

तीसरे व्याख्यान का विषय है - दार्शनिक परम्परा मे हरिभद्र द्वारा दाखिल की गई नवीन दृष्टि। दूसरे व्याख्यान के अन्त मे जिन पाँच गुणो अथवा विशिष्टताओं का सूचन किया है उनमे से प्रारम्भ के तीन गुण उनके दो दार्शनिक ग्रन्थो मे बहुत ही स्पष्ट रूप से व्यक्त हुए हैं। इन दो ग्रन्थो मे से पहला है षड्दर्शनसमुच्चय और दूसरा है शास्त्रवार्तासमुच्चय।

दर्शन का सच्चा भाव तो है - वस्तुमात्र के यथार्थ स्वरूप का अवगाहन अथवा उसके लिए प्रयत्न करना। सत्य का स्वरूप निःसीम और अनन्तविध है। एक ही व्यक्ति को भी वह बहुत बार कालक्रम मे विविध रूप में भासित होता है, और अनेक व्यक्तियो मे भी सत्य, देश और काल-भेद से, भिन्न-भिन्न रूप मे आविर्भूत होता है। इससे किसी एक व्यक्ति का सत्य-दर्शन परिपूर्ण एव अन्तिम तथा अन्य व्यक्ति द्वारा देखे गये सत्यांश से सर्वथा निरपेक्ष नही हो सकता। अतएव सत्य की पूर्ण कला के समीप पहुँचने का राजमार्ग तो यह है कि प्रत्येक सत्य-जिज्ञासु इतर व्यक्ति के दर्शन को समादर एवं सहानुभूति से समझने का प्रयत्न करे। वस्तुस्थिति ऐसी होनी चाहिए, परन्तु मानव-चित्त मे सत्य की जिज्ञासा के साथ ही कितने ही मल भी विद्यमान होते है। वैसे मलो की तीव्रता अथवा मन्दता के कारण जिज्ञासु अधिक मध्यस्थता धारण नही कर सकता और पर-मत अथवा पर-दर्शन के साथ संघर्ष मे आता है। इस प्रकार एक ओर विशिष्ट व्यक्ति मत-विरोध या मत-विसवाद दूर करने का प्रयत्न करता है, तो दूसरी ओर अनेक साधारण व्यक्ति मतभेद को क्लेशभूमि मे परिवर्तित कर देते है। ऐसा संवाद-विसंवाद का चक्र सभी धर्म-पंथो मे किसी-न-किसी रूप मे पवर्तित देखा जाता है।

इसीलिए प्रियदर्शी अशोक ने अपने धर्मशासनो मे ब्राह्मण एव श्रमण परम्परा में समाविष्ट होने वाले सभी छोटे-बड़े पंथो को उद्दिष्ट करके कहा है कि सभी धार्मिक आपस-आपस मे सवादपूर्वक बर्ताव करे। जो पर-पाषण्ड या पर-धर्म या पर दर्शन की निन्दा करता है वह वस्तुत- स्व-पाषण्ड अर्थात् स्वधर्म की ही निन्दा करता है।[1]

---

१ देखो दूसरे व्याख्यान की पादटीप न० ३२ मे उद्धृत अशोक का बारहवाँ शासन।

अशोक ने जैसे सभी ब्राह्मण-श्रमण वर्गों को उद्दिष्ट करके शिक्षा दी है, वैसे ही बौद्ध-निकायो को उद्दिष्ट करके भी सलाह और बोध दिया है। अशोक जब बुद्ध-धर्म-सघ का त्रिशरण स्वीकार करके बौद्ध उपासक हुआ, तब उसने बौद्ध धर्म मे पैदा हुए पक्ष-पक्षान्तरो और भिन्न-भिन्न निकायो के बीच, सत्य के दावे के लिए ही, होने वाली गाली-गलौच को देखकर उसे दूर करने के लिए भदन्तो को भी नम्र सूचना की है।[२]

अशोक के धर्मशासन सूचित करते है कि उसके समय मे ब्राह्मण और श्रमण वर्ग के बीच दर्शन और धर्म के विषय मे कैसी अनिष्ट स्थिति प्रवर्तमान थी।

दर्शन या तत्त्वज्ञान धर्म-सम्प्रदाय के आधार पर ही टिकता और विकसित होता है, तो धर्म-सम्प्रदाय भी तत्त्वज्ञान की भूमिका के बिना कभी स्थिर नही हो सकता। दोनो का मिलन जैसे आवश्यक है वैसे ही हितावह भी है, परन्तु जव कोई एक दर्शन अमुक धर्म-सम्प्रदाय के साथ सकलित हो जाता है तब उसके साथ दूसरी अनेक वस्तुएँ भी अस्तित्व मे आती हैं। दर्शन और आचारविषयक ग्रन्थ, उनके प्रणेता और व्याख्याता, इन सबको पोसनेवाला और आदर देनेवाला अनुयायीवर्ग—इस तरह दर्शन और धर्म दोनो मिलकर एक विशिष्ट प्रकार का जीवित सम्प्रदाय बनता है। सम्प्रदाय के पुरस्कर्ता चाहे या न चाहे, परन्तु उसमे एक ऐसा वातावरण निर्मित होता है जिससे कि सम्प्रदायो मे मात्र श्रेष्ठता-कनिष्ठता की ही वृत्ति उदित नही होती, बल्कि वे धीरे-धीरे दूसरे को हेय और अस्पृश्य तक मानने लगते है, इतना ही नही, इतिहास मे ऐसे अनेक प्रसग भी उल्लिखित है जिनमे सम्प्रदायभेद के कारण ही गाली-गलौच, मारपीट और लडाई तक की नौबत पैदा हुई थी।

सत्य-दर्शन और सत्यलक्षी आचार के नाम पर ही जव तुमुल युद्ध अथवा भीषण वादविवाद हो, तव अशोक जैसे का चित्त द्रवित हो और वह ध्रुव शिला-पट्टो मे प्रकट हो, यह स्वाभाविक है। अशोक तथा उसके जैसे दूसरे कई लोगो की सावधानी के वावजूद भी उत्तर काल मे इस शुष्क वाद और विवाद का चक्र रुका नही है। इसके प्रमाण प्रत्येक परम्परा के दर्शन और धर्म-विषयक ग्रन्थो मे अल्पाधिक मिलते ही है।[३]

---

२ देखो 'अशोकना शिलालेखो' (गुजराती) सारनाथ का शिलालेख।

३ देखो इसी लेखक के 'दर्शन अने चिन्तन' (गुजराती) मे 'साम्प्रदायिकता अने तेना पुरावाओनु दिग्दर्शन' नामक लेख पृ ११०६ से ११९५, 'कथापद्धतिना स्वरूप अने तेना साहित्यनु दिग्दर्शन' पृ ११९६ से १२६३। इसमे वाद एव तद्विषयक साहित्य के विकास का विस्तारपूर्वक निरूपण किया गया है।

अक्षपाद और बादरायण जैसो के सूत्र-ग्रन्थो मे पर-मत की समीक्षा तो है, पर उनमे कोई कटु शब्द नही आता; परन्तु इन्ही ग्रन्थो के व्याख्याता आगे जाकर खण्डन-मण्डन के रस मे इतने वह गये कि वे प्रतिवादी को 'पुरुपापसद', 'प्राकृत', 'म्लेच्छ' या 'बाह्य' जैसे विशेषणो से विभूपित करने मे गौरव मानने लगे। प्रतिवादियो का तिरस्कार करने वाली ऐसी वृत्ति के प्रभाव से बौद्ध और जैन भी अलिप्त नही रह सके हैं। ब्राह्मण-श्रमण परम्परा का ऐसा धार्मिक वातावरण चारो ओर फैला हुआ था। इसीमे हरिभद्र का जन्म और संवर्धन हुआ। उन्होने जब श्रमण-दीक्षा अगीकार की तब उस परम्परा मे भी उन्हे वैसे ही वातावरण ने घेर लिया। इसीलिए उनके कई प्राकृत-सस्कृत ग्रन्थो मे हम उन्हे परवादी के ऊपर करारे शब्द-प्रयोग करते हुए कभी-कभी देखते है।[४]

परन्तु हरिभद्र का मूलगत स्वभाव कुछ दूसरे ही प्रकार का था। मानो उनके मूलगत संस्कारो में समत्व एवं मध्यस्थता मुद्रालेख के रूप मे ही न हो इस तरह वह संस्कार परापूर्व से चले आनेवाले कदाग्रह और मिथ्याभिनिवेश के चक्र को भेद कर बाहर आया और वह उनकी, कदाचित् पीछे से लिखी गई, उपर्युक्त दो कृतियों मे साकार हुआ।

षड्दर्शनसमुच्चय

सर्वप्रथम षड्दर्शनसमुच्चय को लेकर विचार करे। पहला प्रश्न यह होता है कि हरिभद्र के इस ग्रन्थ के जैसी कृतिया पहले किसी की थी ? जहा तक मैं जानता हूँ वहा तक हरिभद्र से पहले प्रसिद्ध भारतीय विविध दर्शनो का प्रतिपादनात्मक दृष्टि से निरूपण करने वाली किसी की कृति हो तो वह सिद्धसेन दिवाकर की है, ऐसा कहा जा सकता है। दिवाकर ने उनकी उपलब्ध कृतियो मे से कई कृतियाँ उस-उस दर्शन का मात्र निरूपण करने के लिए रची है। यह सच है कि वे कृतियाँ पाठकी भ्रष्टता एवं व्याख्या के अभाव इत्यादि कारणो से इस समय बहुत स्पष्ट अर्थ प्रकट नही करती, फिर भी उन कृतियो के पीछे दिवाकर की दृष्टि तो मुख्य रूप से उस-उस दर्शन के स्वरूप का निरूपण करने की है, नही कि उनके मन्तव्यो का खण्डन करने की। अत अन्य कोई वैसी पूर्वकालीन कृति उपलब्ध न हो वहा तक ऐसा कहा जा सकता है कि भारतीय दर्शनो का प्रतिपादनात्मक दृष्टि से निरूपण करनेवाली सर्वप्रथम कृति सिद्धसेन दिवाकर की है। उसके बाद हरिभद्र का स्थान आता है।

---

४ डॉ इन्दुकला ही झवेरी 'योगशतक' (हिन्दी) प्रस्तावना पृ १७-८।

हरिभद्र ने अपनी इस कृति मे छः दर्शनो का निरूपण किया है। सिद्धसेन की दार्शनिक कृतिया पद्यबद्ध है, तो हरिभद्र की यह कृति भी पद्यबद्ध है। सिद्धसेन की कृतिया अशुद्धि एवं व्याख्या के अभाव के कारण बहुत अस्पष्ट और सन्दिग्ध है, तो हरिभद्र की कृति पाठ-शुद्धि और विशद व्याख्या के कारण एकदम स्पष्ट और निश्चितार्थक है। यद्यपि सिद्धसेन की कृतिया उस-उस दर्शन के कतिपय प्रमेयो की चर्चा करती है, परन्तु सिद्धसेन कभी-कभी वीरस्तुति आदि मे स्वमान्यता का स्थापन करते समय इतर मन्तव्यो की विनोदप्रधान समालोचना करते है, और विवादरत स्व-पर सभी दार्शनिको के ऊपर विनोदमूलक तार्किक कटाक्ष भी करते है,[५] जबकि हरिभद्र तो बिलकुल सीधे-सादे ढंग से दर्शनो का निरूपण करते है। इन दोनो की कृतियो मे दूसरा भेद यह है कि सिद्धसेन ने तो उस-उस दर्शन के मात्र तत्त्वो का ही निरूपण किया है और उन दर्शनो के मान्य देवता आदि की खास बात नही कही, जबकि हरिभद्र प्रत्येक दर्शन के निरूपण के समय उस-उस दर्शन के मान्य देवता का भी सूचन करते हैं।

हरिभद्र के पश्चात् उनके षड्दर्शनसमुच्चय का स्मरण कराने वाली लगभग पाच कृतियो का यहा उल्लेख करना चाहिये। उनमे से एक अज्ञातकर्तृक 'सर्वसिद्धान्त

---

५ वदन्ति यानेव गुणान्धचेतस. समेत्य दोपान् किल स्वविद्विप ।
त एव विज्ञानपथागता सता त्वदीयसूक्तप्रतिपत्तिहेतव. ॥ ६ ॥
कृपा वहन्त कृपरणेपु जन्तुपु स्वमासदानेष्वपि मुक्तचेतस ।
त्वदीयमप्राप्य कृपार्थकौशल स्वत कृपा सजनयन्त्यमेधस ॥ ७ ॥
समृद्धपत्रा अपि सच्छिखडिनो यथा न गच्छन्ति गत गरुत्मत ।
सुनिश्चितज्ञेयविनिश्चयास्तथा न ते गत यातुमल प्रवादिन ॥ १२ ॥
—वीरस्तुतिद्वात्रिंशिका-१

ग्रामान्तरोपगतयोरेकामिषसगजातमत्सरयो ।
स्यात् सौख्यमपि शुनोर्भ्रात्रोरविवादिनोर्न स्यात् ॥ १ ॥
तावद् वकमुग्धमुखस्तिष्ठति यावन्न रगमवतरति ।
रगावतारमत्त काकोद्धतनिष्ठुरो भवति ॥ ३ ॥
अन्यत एव श्रेयास्यन्यत एव विचरन्ति वादिवृषाः ।
वाक्सरम्भ क्वचिदपि न जगाद मुनि शिवोपायम् ॥ ७ ॥
—वादद्वात्रिंशिका

दैवखात च वदन आत्मायत्त च वाङ्मयम् ।
श्रोतार सन्ति चोक्तस्य निर्लज्ज. को न पण्डित ।
—न्यायद्वात्रिंशिका

विशेप के लिए देखो 'दर्शन अने चिन्तन' पृ ११४४ से।

प्रवेशक है; दूसरी 'सर्वसिद्धान्तसंग्रह' है, जिसके प्रणेता शंकराचार्य कहे जाते है, परन्तु वह आद्य शंकराचार्य की कृति नहीं है ऐसा निश्चित मालूम होता है, तीसरी कृति 'सर्वदर्शनसंग्रह' है, जो माधवाचार्यकृत है और बहुत सुविदित है, चौथी कृति जैनाचार्य राजशेखर की है और उसका नाम भी 'षड्दर्शनसमुच्चय' (प्रकाशक : श्री यशोविजय जैन ग्रन्थमाला, नं० १७, बनारस) ही है और पाचवी कृति है माधव-सरस्वतीकृत 'सर्वदर्शनकौमुदी'। इनमे से केवल सर्वदर्शनसंग्रह के ऊपर ही आधुनिक व्याख्या है और वह बहुत विशद भी है, दूसरे ग्रन्थो के ऊपर कोई टीका अथवा टीकाएँ हो तो वह ज्ञात नही।

हरिभद्र के पहले भी समुच्चयान्त कृतियों की रचना शुरू हो गई थी और समुच्चय के अर्थवाला 'संग्रह' पद जिसके अन्त में हो ऐसी भी कृतियां रची जाती थीं। दिङ्नाग का प्रमाणसमुच्चय, असंग का अभिधर्मसमुच्चय और शान्ति-देव के सूत्रसमुच्चय तथा शिक्षासमुच्चय जैसे ग्रन्थ समुच्चयान्त कृतियो के उदाहरण हैं, तो प्रशस्तपादका पदार्थसंग्रह, नागार्जुन का धर्मसंग्रह इत्यादि ग्रन्थ संग्रहान्त कृतियो के निदर्शन हैं।

सर्वसिद्धान्तप्रवेशक के कर्ता का नाम यद्यपि अज्ञात है, फिर भी वह जैन कृति है इसमें तो सन्देह नही है, क्योकि उसके मंगलाचरण मे ही 'सर्वभावप्रणेतारं प्रणिपत्य जिनेश्वरम्' ऐसा कहा है। विषय एवं प्रतिपादकशैली की दृष्टि से यह कृति हरिभद्रसूरि के षड्दर्शनसमुच्चय का अनुसरण करती है, अन्तर केवल इतना ही है कि हरिभद्रसूरि का ग्रन्थ पद्य में और संक्षिप्त है, जबकि यह कृति गद्य मे और तनिक विस्तृत है।

यद्यपि कालक्रम से विचार करने पर उपर्युक्त पाचों कृतियो मे राजशेखर का 'षड्दर्शनसमुच्चय, बाद का है, परन्तु उसकी रचना एक जैनाचार्य ने की है और वह भी हरिभद्र के षड्दर्शनसमुच्चय के आधार पर; अत. सर्वप्रथम इन दो कृतियों की तुलना करके हम देखेगे कि राजशेखर की अपेक्षा हरिभद्र का दृष्टिबिन्दु कितना उदात्त है। हरिभद्र की कृति केवल ८७ पद्यो मे पूर्ण होती है, जबकि राजशेखर की रचनामे १८० पद्य है। हरिभद्र ने जिन छ दर्शनो का निरूपण किया है, उन्ही का निरूपण राजशेखर ने भी किया है। हरिभद्रने दर्शनो का निरूपण उस-उस दर्शन को मान्य देव एवं प्रमाण-प्रमेय रूप तत्त्वो को लेकर किया है, जबकि राजशेखर ने देव एवं तत्त्व के अतिरिक्त लिंग, वेष, आचार, गुरु, ग्रन्थ और मुक्ति को लेकर भी दर्शनो के भेद का वर्णन किया है। हरिभद्र के संक्षिप्त ग्रन्थ मे उस-उस दर्शन का जानने

योग्य व्योरा विशेष उपलव्ध नही होता, परन्तु राजशेखर ने कुछ तो अवलोकन से और कुछ श्रवणपरम्परा से रसप्रद तथा संशोधक और ऐतिहासिक दृष्टि से उपयोगी हो सके ऐसी खास-खास ज्ञातव्य बातों का भी सन्निवेश किया है। राजशेखर ने जिन वातो का उल्लेख किया है वे आज यद्यपि विशेष परीक्षण की अपेक्षा रखती हैं, फिर भी उनमे वहुत सत्याश भासित होता है। ये बाते जिज्ञासा-प्रेरक होने से गुणरत्न ने उनका उपयोग हरिभद्र के षड्दर्शनसमुच्चय की विशद व्याख्या मे किया है, गुणरत्न ने यत्र-तत्र उनमे कुछ सुधार और दूसरी बातो का भी समावेश किया है। जो जो बाते राजशेखर ने और अधिक जोडी है वे उस-उस दर्शन के लिंग, वेष, आचार, गुरु और ग्रन्थ आदि के बारे मे हैं। इस दृष्टि से विचार करे तो ऐसा कहना चाहिए कि हरिभद्र के षड्दर्शनसमुच्चय की अपेक्षा राजशेखर का समुच्चय विशेष उपादेय है। हरिभद्र जैन है, तो राजशेखर भी जैन ही है। साधु पदधारी होते हुए भी दोनो साम्प्रदायिक खण्डन-मण्डन के सस्कार तो रखते ही है। फिर भी, दूसरी तरह से विचार करे तो, हरिभद्र का छोटा भी ग्रन्थ राजशेखर के विस्तृत ग्रन्थ की अपेक्षा विशेष अर्थपूर्ण लगता है। वह अर्थ यानी कर्ताकी उदात्त दृष्टि। भारतीय दार्शनिकोमे हरिभद्र ही एक ऐसे हैं, जिन्होने अपने ग्रन्थकी रचना केवल उन-उन दर्शनो के मान्य देव और तत्त्व को यथार्थ रूपमे निरूपित करने की प्रतिपादनात्मक दृष्टि से की है, नही कि किसी का खण्डन करने की दृष्टि से, जबकि उन्ही के अनुगामी राजशेखर वैसी उदात्तता नही दिखला सके है। चार्वाक कोई दर्शन नही है—ऐसा विधान तो राजशेखर करते ही हैं,[६] परन्तु साथ ही अन्त मे चार्वाक दर्शन का पूर्वप्रचलित ढंग से खण्डन भी करते हैं।[७] राजशेखर हरिभद्र के ग्रन्थ का अनुसरण करे और फिर भी हरिभद्र से अलग पडकर चर्वाक को दर्शन कोटि से बाहर रखे तथा दूसरे किसी दर्शन का नही और केवल चार्वाकका ही प्रतिवाद करे, तब वह प्रतिवाद, परम्परागत होने पर भी, लेखक की दृष्टि की तटस्थता मे कुछ कमी सूचित करता है।

हरिभद्र प्रारम्भ मे ही छ दर्शनो का निरूपण करने की प्रतिज्ञा करते हैं। प्रारम्भ के छ. दर्शनो के नामोल्लेख मे चार्वाकका निर्देश नही है, परन्तु इन छहो का निरूपण करने के उपरान्त वह कहते है कि न्याय एवं वैशेषिक ये दो दर्शन भिन्न नही हैं ऐसा मानने वाले की दृष्टि से तो आस्तिक-दर्शन पाँच ही हुए, अत की गई प्रतिज्ञा के अनुसार छठे दर्शन का निरूपण आवश्यक है, तो यह निरूपण चार्वाकको

---

६ 'नास्तिक तु न दर्शनम्' श्लोक ४।

७ देखो श्लोक ६५ से ७५।

भी एक दर्शन के रूप मे मान्य रखकर पूर्ण करना चाहिए।[८] ऐसा कहकर वे चार्वाक के प्रति समभाव प्रदर्शित करते है। यहाँ यह बात भी ध्यान मे रखनी चाहिए कि सर्वसिद्धान्तप्रवेशक के कर्ता ने दर्शनो की छ की सख्या की पूर्ति के प्रश्न की चर्चा किये बिना ही अन्त मे चार्वाक दर्शन का निरूपण किया है। इस प्रकार उनके मतानुसार सात दर्शन होते है।

हरिभद्र के पहले ही शताब्दियो से चार्वाक मत के प्रति भारतीय आत्मवादी दर्शनों की अवज्ञापूर्ण दृष्टि रही है। ऐसा मालूम होता है कि हरिभद्र मे यह अवगणना न रही। उन्होने अपनी मूल प्रकृति के अनुसार सोचा होगा कि जीवन और जगत् को देखने और विचारने की विविध उच्चावच कक्षाएँ है। उनमें चार्वाक मत को भी स्थान है। जो मात्र वर्तमान जीवन को सम्मुख रखकर दृश्यमान लोक की ही मुख्यतया विचारणा करते है वे सिर्फ इसी कारण अवगणना के पात्र हैं ऐसा नही कहा जा सकता। इसीसे उन्होने वैसे मत को भी दर्शन-कोटि मे स्थान देकर अपनी दृष्टि की उदात्तता सूचित की है।

सामान्यत प्रत्येक ग्रन्थकार करता है वैसे ही सर्वसिद्धान्तसग्रह एवं सर्वदर्शनसग्रह के रचयिता अपने अभिप्रेत इष्टदेव का ही स्तवन-मंगल आरम्भ मे करते हैं। इसी प्रणालिका के अनुसार हरिभद्र ने, सर्वसिद्धान्तप्रवेशक के कर्ता ने तथा राजशेखर ने भी अपने अभिप्रेत देव 'जिन' का प्रारम्भ मे वन्दन किया है। इसके पश्चात् प्रत्येक ने अनुक्रम से दर्शनो का निरूपण किया है, किन्तु इस निरूपण का क्रम पाँचो ग्रन्थो मे एक-सा नही है। सर्वसिद्धान्तसग्रहकार सर्वप्रथम वैदिक विद्याओ और उनमे समाविष्ट होने वाले वैदिक दर्शनो का स्पष्ट वर्णन करते है, जो कि महिमन्-स्तोत्र के सातवे श्लोक की व्याख्या मे प्रस्थान-भेद के रूप मे मधुसूदन सरस्वतीकृत वर्णन की पद्यबद्ध छायामात्र है। उस वर्णन का मुख्य स्वर यह है कि वैदिक दर्शन ही आस्तिक है और उन्हे चाहे जिस तरह वेदबाह्य चार्वाक, जैन और बौद्ध मतो का निरास करना ही चाहिए। मधुसूदन सरस्वती ने भी प्रस्थान-भेद मे यही बात शब्दान्तर से कही है। वह कहते हैं कि विश्वव्यापी परम-तत्त्व का दर्शन अनेक तरह

---

८ नैयायिकमतादन्ये भेद वैशेपिकै सह।
न मन्यन्ते मते तेपा पचैवास्तिकवादिन ॥ ७८ ॥
पड्दर्शनसख्या तु पूर्यते तन्मते किल।
लोकायतमतक्षेपे कथ्यते तेन तन्मतम् ॥ ७९ ॥
—हरिभद्रीय पड्दर्शनसमुच्चय

से होता है। इन अनेकविध दर्शनो मे से कोई परम पुरुषार्थ मे साक्षात् उपयोगी है, तो दूसरे परम्परा से। परन्तु अन्ततोगत्वा साक्षात् एव परम्परा से परम-पुरुषार्थ मे उपयोगी होने की शक्यता तो वैदिक दर्शनो मे ही है, और अवैदिक दर्शन तो म्लेच्छ या बाह्य-जैसे होने के कारण सर्वथा वर्जनीय और निराकरण-योग्य हैं।[९] इसी प्रकार सर्वसिद्धान्तसंग्रह का भी प्रारम्भ अवैदिक दर्शनों के निरूपण और उनके खण्डन से होता है। आगे जाकर जब उसके कर्ता वैशेषिक, नैयायिक और भाट्ट दर्शन का निरूपण करते हैं, तब भी वह एक ही बात कहते है कि वैशेपिको ने,[१०] नैयायिको ने[११] तथा भाट्टो ने[१२] वेद-प्रामाण्य का स्थापन किया है और वेदविरोधी दर्शनो का निराकरण किया है—मानो सर्वसिद्धान्तसंग्रहकार के मत से वैशेषिक, न्याय और कौमारिल दर्शन की यही खास विशेपता हो। इसके बाद सर्वसिद्धान्त-संग्रहकार इतर वैदिक दर्शनो का निरूपण करते है। इस ग्रन्थ मे दो विशेषताएँ ऐतिहासिक दृष्टि से बहुत महत्त्व की लगती हैं. (१) ग्रन्थकार कहते है कि भारत मे (महाभारत मे) व्यासकथित जो वेद का सार है उसे वैदिक ब्राह्मणो को सर्वशास्त्रा-विरोधिरूप से साख्य-पक्ष मे से निकालना चाहिए।[१३] इसके अतिरिक्त वह कहते है कि श्रुति, स्मृति, इतिहास और भारत आदि पुराणो मे तथा शैवागमो मे साख्यमत स्पष्ट रूप से दिखाई पडता है।[१४] सर्वसिद्धान्तसग्रहकार का यह वक्तव्य वास्तविक है।

---

९ "... वेदबाह्यत्वात्तेपा म्लेच्छादिप्रस्थानवत्परम्परयापि पुरुषार्थानुपयोगित्वादुपेक्षणीयत्वमेव। इह च साक्षाद्वा परम्परया वा पुमर्थोपयोगिना वेदोपकरणानामेव प्रस्थानाना भेदो दर्शित।"
— प्रस्थानभेद

१० नास्तिकान् वेदबाह्यास्तान् बौद्धलोकायतार्हतान्।
निराकरोति वेदार्थवादी वैशेषिकोऽधुना ॥ १ ॥
—सर्वसिद्धान्तसग्रह, वैशेषिक पक्ष

११ नैयायिकस्य पक्षोऽथ सक्षेपात्प्रतिपाद्यते।
यत्तर्करक्षितो वेदो ग्रस्त पाषण्डदुर्जनै ॥ १ ॥
—सर्वसिद्धान्तसग्रह, नैयायिक पक्ष

१२ बौद्धादिनास्तिकध्वस्तवेदमार्गं पुरा किल।
भट्टाचार्य कुमाराश स्थापयामास भूतले ॥ १ ॥
—सर्वसिद्धान्तसग्रह, भट्टाचार्य पक्ष

१३ सर्वशास्त्राविरोधेन व्यासोक्तो भारते द्विजै।
गृह्यते साख्यपक्षाद्धि वेदसारोऽथ वैदिकै ॥ १ ॥
—सर्वसिद्धान्तसग्रह, वेदव्यास पक्ष

१४ श्रुतिस्मृतीतिहासेषु पुराणे भारतादिके।
साख्योक्त दृश्यते स्पष्ट तथा शैवागमादिपु ॥ ४ ॥
—सर्वसिद्धान्तसग्रह, साख्यपक्ष

किसी अन्य तत्त्वज्ञान की अपेक्षा भागवत तत्त्वज्ञान की कितनी अधिक व्यापकता है यह इससे सूचित होता है, परन्तु जब वह व्यासोक्त दर्शन का निरूपण करते हैं, उस समय भी उनकी दृष्टि तो हरि की ओर है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि यह ग्रन्थकार वेदान्ती होने पर भी भारत के केन्द्र स्थान में रहे हुए विष्णु या हरि का उपासक है। (२) इसकी दूसरी विशेषता यह है कि सर्वसिद्धान्तसंग्रहकार सभी दर्शनों के अन्त में वेदान्त का निरूपण करते है और उसी को सभी दर्शनों में मूर्धन्य मानते हो ऐसा प्रतीत होता है, फिर भी वह महाभारत की भाँति भागवत के भी परम भक्त मालूम होते है। इसीसे अन्त मे वह कहते हैं कि इस अवधूतमार्ग का उपदेश कृष्ण ने उद्धव को भागवत में दिया है।[१५] सर्वसिद्धान्तसंग्रह की इस सामान्य समालोचना पर से देखा जा सकता है कि इसके लेखक अवैदिक चार्वाक, जैन और बौद्ध दर्शनो को कैसी लाघव दृष्टि से देखते हैं। यदि एक ही विश्वव्यापी परम-तत्त्व को भिन्न-भिन्न भूमिका से देखने वाले न्याय आदि दर्शनो को वह आस्तिक समझते हैं, तो उसी तत्त्व को अपनी भूमिका और संस्कार के अनुसार देखने वाले चार्वाक आदि दर्शनो को वह आस्तिक क्यों नही कहते ?—ऐसा प्रश्न किसी भी तटस्थ विचारक को हुए बिना नहीं रह सकता। इसका उत्तर सरल है। वह यह कि सर्व-सिद्धान्तसंग्रहकार हों, या सर्वदर्शनसंग्रहकार हो, या फिर प्रस्थानभेदकार मधुसूदन सरस्वती हो, इन सबके मन में दार्शनिक चिन्तन मे वेदरक्षा का स्थान मुख्य है, इसीसे वे सर्वप्रथम यह देखते हैं कि कौन वेद को प्रमाण मानता है और कौन नही मानता ?

सर्वदर्शनसंग्रह की शैली सर्वसिद्धान्तसंग्रह की शैली से अवश्य अलग पड़ती है, परन्तु उसमें से एक ऐसी ध्वनि तो निकलती ही है कि अवैदिक दर्शनो का सर्वथा

---

१५ उक्तोऽवधूतमार्गश्च कृष्णेनैवोद्धवं प्रति ॥ ९८ ॥
श्रीभागवतसंज्ञे तु पुराणे दृश्यते हि स. ।
—सर्वसिद्धान्तसंग्रह, वेदान्तपक्ष

'भागवत' स्कन्ध ११, अध्याय ७, श्लोक २४ से अवधूतमार्ग का वर्णन शुरू होता है। उसमें से दो श्लोक नीचे उद्धृत किये जाते हैं —

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
अवधूतस्य संवादं यदोरमिततेजस ॥ २४ ॥
अवधूतं द्विजं कञ्चिच्चरन्तमकुतोभयम् ।
कविं निरीक्ष्य तरुणं यदु पप्रच्छ धर्मवित् ॥ २५ ॥

इसके अतिरिक्त देखो 'भागवत' स्कन्ध ५, अध्याय १०, श्लोक १६। स्कन्ध ५, अध्याय ५, श्लोक २८ मे अवधूत ऋषभ का वर्णन आता है।

निराकरण करना। सर्वदर्शनसग्रहकार चार्वाक मत का निरसन बौद्ध द्वारा और बौद्ध मत का निरसन जैन मत द्वारा कराते है और अन्त मे जैन मत का निरसन रामानुज द्वारा कराते है। इस प्रकार वह अपने प्रतिपादित सोलह दर्शनो मे मूर्धन्य-स्थान पर अद्वैत वेदान्त दर्शन को रखते है। हम इस सक्षिप्त वर्णन से इतना तो देख सकते है कि जिस प्रकार सर्वसिद्धान्तसग्रहकार पूर्व-पूर्व के कई दर्शनो का निरास करके अन्त मे मात्र वेदान्त को प्रस्थापित करते है,[१६] उसी प्रकार सर्वदर्शन-संग्रहकार भी करते है।

सर्वदर्शनकौमुदी के विपयक्रम और शैली उक्त ग्रन्थो की अपेक्षा भिन्न है। उसमे तीन अवैदिक और तीन वैदिक इस तरह छ दर्शन गिनाकर बाद मे तीन वैदिक दर्शनो की छ. संख्या सूचित की है और तीन अवैदिक दर्शनो मे बौद्ध, जैन और चार्वाक इन तीन को गिनाया है। इन अवैदिक दर्शनो मे से बौद्ध के चार भेद गिनाये है। इन भेदो को ध्यान मे रखे तो ऐसा मालूम होता है कि अवैदिक दर्शनो की सख्या इसके रचयिता के मनमे छ. ही अभिप्रेत है। माधव-सरस्वती सायण-माधवाचार्य की भाँति शाकर अद्वैत के कट्टर अनुयायी है। उन्होने अपने शाकर-विषयक मन्तव्य का तीनो प्रस्थानो के[१७] सार के रूप मे वर्णन किया है और उसे एक स्वतंत्र प्रस्थान के रूप मे गिनाया है। यद्यपि वह सायण-माधवाचार्य की भाँति पूर्व-पूर्व के दर्शन का उत्तर-उत्तर के दर्शन द्वारा खण्डन करने की शैली नही अपनाते, फिर भी उनकी दृष्टि खण्डन की तो है ही।

इससे सर्वथा उल्टा दोनो षड्दर्शनसमुच्चय मे है। राजशेखर चार्वाक की परिगणना दर्शन के रूप मे नही करते, परन्तु दूसरे पाँच या छ दर्शनो को वह हरिभद्र की भाँति आस्तिक ही कहते है। हाँ, इतना फर्क अवश्य है कि दोनो जैन होने पर भी हरिभद्र अपने जैन दर्शन को प्रथम स्थान न देकर बौद्ध, न्याय और साख्य के पश्चात् चौथा स्थान देते है। सर्वसिद्धान्तप्रवेशक मे भी जैन दर्शन को तीसरा स्थान दिया गया है। उसमे दर्शनो का क्रम इस प्रकार है: नैयायिक, वैशेपिक, जैन, साख्य, वौद्ध, मीमासक और चार्वाक। परन्तु राजशेखर जैन दर्शन को प्रथम स्थान देते है। राजशेखर ने हरिभद्र के आधार पर ही अपने ग्रन्थ की रचना की है, फिर भी यह

---

१६ देखो 'सर्वसिद्धान्तसग्रह' मे वेदान्तपक्ष, श्लोक २९ से, ५६ से तथा ६६ से।

१७ वार्तिक, विवरण एव वाचस्पति—ये तीन प्रस्थान माने जाते है। इसके विशेप परिचय के लिए देखो 'सर्वदर्शनकौमुदी' पृ ११३–१४ (त्रिवेन्द्रम् सस्कृत सिरीज़ क्रमाक १३५)।

क्रम-विपर्यास क्यो किया, ऐसा प्रश्न तो होता ही है। ऐसा मालूम पड़ता है कि राजशेखर अपने पूर्ववर्ती और समकालीन दार्शनिको की अभिनिवेशपूर्ण वृत्ति से पर नही हो सके थे, जब कि हरिभद्र वैसी वृत्ति से पर होकर अपने क्रम की संयोजना करते हैं।[१८] इसीलिए दूसरे ग्रन्थो मे बौद्ध, नैयायिक आदि दर्शनो का सयुक्तिक और भारपूर्वक खण्डन करने पर भी जब षड्दर्शनसमुच्चय की रचना करने के लिए वह प्रेरित हुए तब उन्होने अपनी पूर्वकालीन अभिनिवेशवृत्ति का परित्याग करके क्रम का विचार किया होगा। इससे मानो वह ऐसा सूचित करना चाहते है कि जो परदर्शनी और परवादी है वह भी अपनी भूमिका और सस्कार के अनुसार वस्तुतत्त्व का प्रामाणिक निरूपण करता है, तो फिर उसमे पर और स्व-दर्शन के श्रेष्ठत्व-कनिष्ठत्व का प्रश्न ही कहाँ रहता है? हरिभद्र की इस दृष्टि मे ही समत्व और तटस्थता के बीज सन्निहित हैं, और उनकी प्रसिद्ध उक्ति—

पक्षपातो न मे वीरे न द्वेष कपिलादिषु।
युक्तिमद्वचनं यस्य तस्य कार्य॰ परिग्रह ॥

की याद दिलाती है।

'आस्तिक' और 'नास्तिक' पद लोक एवं शास्त्र मे विख्यात हैं। अब हम इन्हे लेकर हरिभद्र की उदात्त दृष्टि का विचार करें। परलोक, आत्मा, पुनर्जन्म जैसे अदृष्ट तत्त्व न मानने वाले को, काशिका-व्याख्या के अनुसार, पाणिनि ने नास्तिक और माननेवाले को आस्तिक कहा है।[१९] इस प्रकार आस्तिक एवं नास्तिक पदो का अर्थ केवल आध्यात्मिकवाद और बहिरर्थवाद मे मर्यादित था, परन्तु कालक्रम से आस्तिकपरम्परा मे भी अनेक दर्शन एवं सम्प्रदाय पैदा हुए। एक वर्ग ऐसा था जो समग्र चिन्तन और समस्त व्यवहार को वेद के आसपास सयोजित करता था, तो दूसरा वर्ग इसका सर्वथा विरोधी था। वेद को माने उसे वैदिक यज्ञ आदि कर्मकाण्ड, उसके सूत्रधार पुरोहित ब्राह्मण और ब्राह्मणत्व जाति को भी अनिवार्यत

---

१८. अनेकान्तजयपताका, शास्त्रवार्तासमुच्चय और धर्मसग्रहणी मे इतर दर्शनो का खण्डन हरिभद्रसूरि ने किया है।

१९ 'अस्ति - नास्ति - दिष्ट मति'—पाणिनि ४ ४ ६०
न च मतिसत्तामात्रे प्रत्यय इष्यते। कर्स्तीह ? परलोकोऽस्तीति यस्य मतिरस्ति स आस्तिक। तद्विपरीतो नास्तिक.। —काशिका
विशेष के लिए देखो 'अध्यात्म विचारणा' (हिन्दी) पृ १०-१। तथा 'दर्शन अने चिन्तन' पृ ७०१।

मानना पडता और इस मान्यताको स्थिर रखने के लिए उसे वेद की भाँति ब्राह्मण और ब्राह्मणत्व जाति की सर्वोपरिताका स्वीकर करना ही पडता। दूसरा वर्ग इस मान्यता से सर्वथा उल्टा ही प्रतिपादन करता। उसके मन किसी भी सत्पुरुषका वचन और आचार वेद और वैदिक कर्म के समान ही प्रतिष्ठित है। उसके मन कोई एक जाति मात्र जन्म के कारण ही श्रेष्ठ और दूसरी कनिष्ठ, ऐसा नही है। यह मतभेद जैसे-जैसे उग्र होता गया वैसे-वैसे आस्तिक और नास्तिक की व्याख्या भी नये ढँग से होने लगी। वेदवादियों ने कहा कि जो वेदको न माने वह नास्तिक है,[२०] फिर भले ही वह आत्मा, पुनर्जन्म आदि क्यों न मानता हो। दूसरी ओरसे विरोधीवर्ग ने कहा कि जो हमारे शास्त्र न माने वह मिथ्यादृष्टि या तैर्थिक है। इस प्रकार आस्तिक-नास्तिक पद का अर्थ तात्त्विक मान्यता से हटकर ग्रन्थ और उसके पुरस्कर्ताओं की मान्यता में रूपान्नरित हो गया।

हरिभद्र के समय तक यह अर्थगत रूपान्तर दृढमूल हो चुका था, फिर भी हरिभद्र इस साम्प्रदायिक वृत्ति के वशीभूत न हुए, और वेद माने या न माने, जैन-शास्त्र माने या न माने, ब्राह्मणत्व की प्रतिष्ठा करे या मानव मात्र की, परन्तु यदि वह आत्मा, पुनर्जन्म आदि को माने तो उसे आस्तिक ही कहना चाहिए—हरिभद्र की यह दृष्टि पाणिनि जितनी प्राचीन तो है ही, परन्तु उत्तरकाल मे इस दृष्टि मे जो साम्प्रदायिक संकुचितता आई उसके वश हरिभद्र न हुए। उन्होंने कह दिया कि वैदिक या अवैदिक सभी आत्मवादी दर्शन आस्तिक है।[२१] इसे हरिभद्र की सम्प्रदायातीत समत्व दृष्टि न कहें तो और क्या कहें ?

शास्त्रवार्तासमुच्चय

अब हम हरिभद्र के दूसरे दार्शनिक ग्रन्थ शास्त्रवार्तासमुच्चय को लेकर विचार करे कि उन्होने इस ग्रन्थ के द्वारा दार्शनिक परम्परा मे असाधारण कहा जा सके ऐसा कौनसा दृष्टिबिन्दु दाखिल किया है ? इसके लिए यदि हम शास्त्रवार्तासमुच्चय की इतर परम्परा के अनेक दार्शनिक ग्रन्थो के साथ तुलना करें तभी कुछ स्पष्ट विधान किया जा सकता है। हरिभद्र के पहले भी वैदिक, बौद्ध और जैन परम्पराओ मे अनेक

---

२०. योऽवमन्येत ते मूले हेतुशास्त्राश्रयाद् द्विज ।
स साधुभिर्बहिष्कार्यो नास्तिको वेदनिन्दक ॥
—मनुस्मृति २ ११

२१ एवमास्तिकवादाना कृत सक्षेपकीर्तनम् ।
—षड्दर्शनसमुच्चय

धुरन्धर आचार्यो के विस्तीर्ण एव महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ मिलते है, जिनमें उस-उस परम्परा के आचार्यो ने इतर परम्पराओ के मन्तव्यो और आचारो की समालोचना गहराई और विस्तार से की है। उन मुख्य-मुख्य सभी ग्रन्थों के साथ तुलना करने का यहाँ अवकाश नही है, परन्तु वैसे पूर्ववर्ती ग्रन्थराशि मे मुकुट-स्थानीय एक मात्र तत्त्वसंग्रह के साथ शास्त्रवार्तासमुच्चय की तुलना करे तो वह यहाँ पर्याप्त समझा जायगा।

तत्त्वसंग्रह बौद्ध परम्परा का ग्रन्थ है। इसके प्रणेता है शान्तरक्षित। यह हरिभद्र के निकट-पूर्वकालीन और शायद वृद्ध-समकालीन हैं। इन्होने जीवन के अन्तिम तेरह वर्ष तिब्बत मे व्यतीत किये और वहाँ बौद्ध परम्पराकी मज़बूत नीव डाली।[२२] इसके पहले वह नेपाल मे भी रहे थे, परन्तु मुख्य रूप से तो वह नालंदा बौद्ध विश्वविद्यालय के प्रधान आचार्य रहे। उस समय नालंदा जितना विशाल विश्वविद्यालय कही भी हो, ऐसा निश्चित प्रमाण ज्ञात नही। उसमे केवल बौद्ध परम्पराका ही अध्ययन-अध्यापन नही होता था, किन्तु उस समय विद्यमान सभी भारतीय परम्पराओं की विद्याओ का अध्ययन-अध्यापन होता था। हज़ारो विद्यार्थी, सैकडों अध्यापक और महत्तम पुस्तकालय तथा देश-विदेश के जिज्ञासु—ऐसे विद्यासमृद्ध वातावरण मे विश्वविद्यालय के प्रधान आचार्यपद पर आसीन शान्तरक्षितका विद्यामय व्यक्तित्व कैसा होगा इसकी कुछ झाँकी उनके तत्त्वसंग्रह नामक ग्रन्थ मे से मिल सकती है।

यह ग्रन्थ भोट-भाषा मे अनुवादित तो है ही, परन्तु मूल संस्कृत ग्रन्थ मात्र दो जैन भण्डारों में से [२३] मिला है और यह गायकवाड़ ओरिएण्टल सिरीज़ मे प्रकाशित भी हुआ है। यह विशाल मूल-ग्रन्थ पद्यबद्ध है और इसके पद्यो की संख्या ३६४६ है। इसमे छब्बीस परीक्षाएँ हैं। प्रत्येक परीक्षा मे अपने मतसे सम्मत न हो अथवा विरुद्ध हो ऐसे मतान्तरों की समीक्षा की गई है। उनमे जैन और वैदिक जैसी बौद्धेतर परम्पराओ के मन्तव्य की समालोचना तो है ही, परन्तु बौद्ध परम्परा की जिन-जिन निकायो अथवा शाखाओ के साथ शान्तरक्षित सम्मत नही होते, प्राय. उन सभी शाखाओ की भी उन्होने तलस्पर्शी समालोचना की है। शान्तरक्षित वज्रयानी विज्ञानवादी थे। शून्यवाद के साथ उनका कोई खास विरोध नही था, परन्तु वैभाषिक और सौत्रान्तिक जैसी शाखाओ के तो वे कट्टर विरोधी थे। दूसरे भी कई

---

२२. 'तत्त्वसंग्रह' की प्रस्तावना पृ १० से १४।

२३. पाटनके वाडी पार्श्वनाथ के भंडार मे से तथा जैसलमेर के भण्डार मे से इस ग्रन्थ की पोथियाँ उपलब्ध हुई है।

छोटे-बड़े मतभेद रखनेवाले विद्वान् बौद्ध परम्परा मे हुए है और थे। उनका भी शान्तरक्षितने केवल निर्देश ही नही किया, बल्कि उनकी सूक्ष्म समालोचना भी की है।[२४]

शान्तरक्षित की एक खास विशेषता उल्लेखनीय है। वह यह कि उन्हे बौद्ध परम्परा की उनके समय तक अस्तित्व मे आई हुई सभी छोटी-बडी शाखाओ के ग्रन्थ, ग्रन्थकार और उनकी जीवन-प्रणालिकाओ का प्रत्यक्ष और सजीव तथा गहरा परिचय था। बौद्धेतर किसी भी परम्परा के विद्वान् से वैसे परिचय की अपेक्षा नही रखी जा सकती। इससे बौद्ध परम्परा के तत्त्वज्ञान विषयक विकास की प्रामाणिक और सर्वाङ्गीण जानकारी प्रस्तुत करनेवाला कोई आकर-ग्रन्थ लभ्य हो तो वह तत्त्वसंग्रह है।

तत्त्वसंग्रह के ऊपर जो 'पंजिका' नाम की विस्तृत टीका है वह शान्तरक्षित के प्रधानतम शिष्य कमलशील की है। कमलशील भी एक बड़े बौद्ध विद्यापीठ के आचार्यपद पर रहे थे। वह प्रबल बहुश्रुत दार्शनिक होने के साथ ही तात्रिक भी थे।[२५] कमलशील ने अपने गुरु शान्तरक्षित के मूल ग्रन्थ का जैसा मर्मोद्घाटक विवेचन किया है वह विरल है। शान्तरक्षित ने सुश्लिष्ट एवं प्रसन्न पद्यो मे जो कुछ संक्षेप मे ग्रथित किया है उस सब का कमलशीलने विशद विवरण तो किया ही है, परन्तु उन्होने अपनी ओर से भी उस-उस विपय से सम्बद्ध कई बातें जोडी है, और उसमे ग्रन्थ एवं ग्रन्थकारो की इतनी सुन्दर पूर्ति की है कि उससे यह तत्त्वसंग्रह अनेक दृष्टि से विशेष अध्येतव्य ग्रन्थ बन गया है।[२६]

हरिभद्र एक जैन आचार्य है। जैन परम्परा के अनुसार वह न किसी एक स्थान पर स्थिरवास ही कर सकते थे और न छोटे या बडे किसी भी प्रकार के विद्यापीठ का आचार्यपद ही स्वीकार कर सकते थे। जैन परम्परा मे बौद्ध या ब्राह्मण परम्परा की भाँति विद्यापीठ भी नही थे; अत हरिभद्र का जो अध्ययन-अध्यापन या शास्त्रीय परिशीलन था वह मुख्यतया उनके आसपास विचरण करनेवाले तथा साथ मे रहनेवाले एक बहुत ही छोटे मुनिमण्डल तक ही सीमित हो सकता था। ऐसा होने

---

२४. वसुमित्र, धर्मत्रात, घोषक, बुद्धदेव ('तत्त्वसग्रहपजिका' पृ ५०४), समन्तभद्र (सघभद्र– 'तत्त्वसग्रहपजिका' पृ ५०६, ५०८), शुभगुप्त ('तत्त्वसग्रहपजिका' पृ १५५ आदि), योगसेन ('तत्त्वसग्रहपजिका' पृ. १५३)।

२५. देखो 'तत्त्वसग्रह' की प्रस्तावना पृ १९।

२६ देखो 'तत्त्वसग्रह' भा २ के अन्त मे दिया गया परिशिष्ट पृ ७९–९७।

पर भी हरिभद्र की जिज्ञासा और विद्याव्यायोगवृत्ति उतनी अधिक उत्कट प्रतीत होती है कि उन्होंने अपनी उस स्थिति में भी उस काल में लभ्य सभी दार्शनिक परम्पराओं का तलस्पर्शी अध्ययन किया। शान्तरक्षित सभी दर्शनों में विशारद होने पर भी जैसे बौद्ध शाखाओं के निकटतम अभ्यासी थे, वैसे ही हरिभद्र भी इतर दर्शनों के सुविद्वान् होने पर भी जैन परम्परा की तत्कालीन सभी शाखाओं के निकटतम अभ्यासी थे। शान्तरक्षित की भांति हरिभद्र तिब्बत या नेपाल तक नहीं गये, परन्तु जिस प्रदेश में उन्होंने विहार किया उस प्रदेश में रहकर भी नालन्दा आदि बौद्ध विश्वविद्यालयों के महान् ग्रन्थकारों की कृतियों का गहरा पारायण उन्होंने किया था।

शान्तरक्षित के मूल ग्रन्थ तत्त्वसंग्रह की अपेक्षा शास्त्रवार्तासमुच्चय का कद बहुत छोटा है—एक पंचमांश से भी कुछ कम। हरिभद्र ने इस ग्रन्थ की व्याख्या स्वयं लिखी है, परन्तु वह भी बहुत ही संक्षिप्त है। तत्त्वसंग्रह के जैसी ही मत-मतान्तरों की समीक्षा शास्त्रवार्तासमुच्चय में है, परन्तु वह भी तत्त्वसंग्रह की अपेक्षा संक्षिप्त है। कमलशील ने तत्त्वसंग्रह पर जैसी विशद और विस्तृत व्याख्या लिखी है वैसी तो हरिभद्र की व्याख्या नहीं है, परन्तु हरिभद्र से नौ सौ वर्ष पश्चात् होनेवाले वाचक यशोविजयजी ने शास्त्रवार्तासमुच्चय का महत्त्व देखकर उस पर एक विस्तृत व्याख्या लिखी है। निस्सन्देह यह व्याख्या सत्रहवीं शताब्दी तक के समय में हुए भारतीय दार्शनिक चिन्तनधाराओं के विकास का निदर्शन है, फिर भी यह व्याख्या उस काल में प्रतिष्ठित नव्य-न्याय की गंगेश-शैली में लिखी गई है, अतः यह विशिष्ट जिज्ञासु के लिए भी सुगम नहीं है, जब कि कमलशील की व्याख्या बहुत सुगम है।

इस तरह देखने पर ऐसा कहा जा सकता है कि शास्त्रवार्तासमुच्चयको तत्त्व-संग्रह की समान कक्षा पर नहीं रखा जा सकता। स्वयं हरिभद्र ही शास्त्रवार्तासमुच्चय में तत्त्वसंग्रह के प्रणेता शान्तरक्षित को 'सूक्ष्मबुद्धि' [२७] कहकर उनकी योग्यता का पूरा बहुमान करते हैं, परन्तु तुलना में एक दूसरी दृष्टि भी विचारणीय है और वही दृष्टि यहां प्रस्तुत है।

सामान्य रूप से दार्शनिक परम्परा के सभी बड़े-बड़े विद्वान् अपने से भिन्न परम्परा के प्रति पहले से लाघवबुद्धि और कभी-कभी अवगणनावृत्ति भी सेते आये हैं। अपने से भिन्न धर्म या दर्शन परम्परा के प्रति अथवा उसके पुरस्कर्ता एवं आचार्यों के प्रति गुणग्राही दृष्टि से आदरसूचक-वृत्ति दार्शनिक कुरुक्षेत्र में दृष्टिगोचर नहीं होती,

---

२७ देखो 'एतेनैतत्प्रतिक्षिप्त यदुक्त सूक्ष्मबुद्धिना' — शास्त्रवार्तासमुच्चय, श्लोक २९६ तथा उस पर की स्वोपज्ञ वृत्ति।

इतना ही नही, प्रतिवादी के मन्तव्यों को किसी भी तरह से दूपित करने का एक ही ध्येय इस क्षेत्र मे अपनाया गया हो ऐसा लगता है। प्रतिपक्षी दार्शनिक की दृष्टि मे कुछ भी सत्य है या नही, यह खोजने की और ज्ञात हो तो उसे स्वीकारने की तटस्थ वृत्ति कोई दिखलाता हो, ऐसा प्रतीत नही होता। शान्तरक्षित जैसे बहुश्रुत आचार्य और भिक्षु-पद पर प्रतिष्ठित एवं आध्यात्मिक पथ के पथिक ने भी अपने ग्रन्थ मे जिन-जिन परपक्षो की सूक्ष्म और विस्तृत समालोचना की हैं उसमे कही भी उन्होने उन परपक्षो के खण्डन के सिवाय दूसरा दृष्टिविन्दु उपस्थित किया ही नही है। वह चाहते तो परपक्ष का प्रतिवाद करने पर भी उसमे से कुछ सत्याश खोज सकते थे, परन्तु उनका उद्देश्य ही एक मात्र प्रतिपक्षी दर्शन के निराकरण का ज्ञात होता है। हरिभद्र, शान्तरक्षित की भांति, उन्हे सम्मत न हो वैसे मतो की अपने ढग से समालोचना तो करते हैं, परन्तु उस समालोचना मे उस-उस मत के मुख्य पुरस्कर्ताओं अथवा आचार्यो को वह तनिक भी लाघव अथवा अवगणना की दृष्टि से नही देखते, उल्टा, वह स्वदर्शन के पुरस्कर्ताओ अथवा आचार्यो को जिस बहुमान से देखते है उसी बहुमान से उन्हे भी देखते हैं। हरिभद्र ने प्रतिपक्षी के प्रति जैसी हार्दिक बहुमानवृत्ति प्रदर्शित की है वैसी दार्शनिक क्षेत्र मे दूसरे किसी विद्वान् ने, कम से कम उनके समय तक तो, प्रदर्शित नही की है। इससे मेरी राय मे यह उनकी एक विरल सिद्धि कही जा सकती है।

जब कोई विद्वान् स्वयं ही अपने खण्डनीय प्रतिपक्ष के पुरस्कर्ताका बहुमान-पूर्वक उल्लेख करे, तब समझना चाहिए कि उसकी आन्तरिक भूमिका गुणग्राही और तटस्थतापूर्ण है। इसी भूमिका का नाम समत्व अथवा निप्पक्षता है। जब मानसिक भूमिका ऐसी हो, तब विद्वान् समालोचक प्रतिपक्ष का निराकरण करने पर भी उसके मत मे रहे हुए सत्याश की शोध करने का प्रयत्न किये विना रह नही सकता, और वैसे प्रयत्न से कुछ ग्राह्य प्रतीत हो तो उसे वह अपने ढग से उपस्थित किये बिना भी रह नही सकता। हरिभद्र के ग्रन्थो मे इसके उदाहरण उपलब्ध होते है। यहाँ वैसे कुछ उदाहरणो को उद्धृत करके हम देखेगे कि हरिभद्र ने प्रतिपक्ष के मन्तव्यकी समालोचना करते समय उसमे से उन्हे ग्राह्य प्रतीत हो वैसे कौन-कौन से मुद्दे लिये है और अपने मन्तव्य के साथ किस प्रकार उनकी तुलना की है—

१ हरिभद्र ने भूतवादी चार्वाक की समीक्षा करके उसके भूत-स्वभाववाद का निरसन किया है और परलोक एव सुख-दु ख के वैपम्यका स्पष्टीकरण करने के लिए कर्मवाद की स्थापना की है। इसी प्रकार चित्तशक्ति या चित्त वासना को कर्म मानने वाले मीमासक और बौद्ध मत का निराकरण करके जैन दृष्टि से कर्म का स्वरूप क्या

है, यह सूचित किया है। इस चर्चा मे उन्हे ऐसा लगा कि जैन परम्परा कर्म का उभयविध स्वरूप मानती है। चेतन पर पडनेवाले भौतिक परिस्थिति के प्रभाव को और भौतिक परिस्थिति पर पडनेवाले चेतन-संस्कार के प्रभाव को मानने के कारण वह सूक्ष्म भौतिक दल को द्रव्य कर्म और जीवगत संस्कार-विशेषको भाव कर्म कहती है। हरिभद्र ने देखा कि जैन परम्परा बाह्य भौतिक तत्त्व तथा आन्तरिक चेतन शक्ति इन दोनो के परस्पर प्रभाववाले संयोग को मानकर उसके आधार पर कर्मवाद और पुनर्जन्म का चक्र घटाती है, तो आखिरकार चार्वाक मत अपने ढँगसे भौतिक द्रव्य का स्वभाव मानता है और मीमांसक एवं बौद्ध अभौतिक तत्त्व का वैसा स्वभाव स्वीकार करते है। अतएव हरिभद्र ने इन दोनो पक्षो मे रहे हुए एक-एक पहलू को परस्पर के पूरक के रूप मे सत्य मानकर कह दिया कि जैन कर्मवाद में चार्वाक[२८] और मीमासक या बौद्ध मन्तव्यो का समन्वय हुआ है।[२९] इस प्रकार उन्होने कर्मवाद की चर्चा मे तुलना का दृष्टिबिन्दु उपस्थित किया है।

२. न्याय-वैशेषिक आदि सम्मत जगत्कर्तृत्ववाद का प्रतिवाद शान्तरक्षित की भाँति हरिभद्र ने भी किया है, परन्तु शान्तरक्षित और हरिभद्र की दृष्टि मे उल्लेखनीय अन्तर है। शान्तरक्षित केवल परवाद का खण्डन करके परितोष पाते है, जब कि हरिभद्र इस असम्मतवाद की अपनी मान्यता के अनुसार समीक्षा करने पर भी सोचते है कि क्या इस ईश्वरकर्तृत्ववाद के पीछे कोई मनोवैज्ञानिक रहस्य तो छुपा हुआ नही है ? इस समभावमूलक विचारणा मे से ही उन्हे जो रहस्य स्फुरित हुआ उसे वे तुलनात्मक दृष्टि से उपस्थित करते हैं।

उन्हे मानव-स्वभाव के निरीक्षण पर से ऐसा ज्ञात हुआ होगा कि सामान्य कक्षा के मानवमात्र मे अपनी अपेक्षा शक्ति एवं सद्गुण मे सविशेष समुन्नत किसी महामानव या महापुरुष के प्रति भक्तिप्रणत होने का और उसकी शरण मे जाने का भाव स्वाभाविक रूप से होता है। इस भाव से प्रेरित होकर वह वैसे किसी समर्थ व्यक्ति की कल्पना करता है। वैसी कल्पना स्वभावत एक स्वतंत्र और जगत् के

---

२८ कर्मणो भौतिकत्वेन यद्वै तदपि साम्प्रतम् ।
आत्मनो व्यतिरिक्त तत् चित्रभाव यतो मतम् ॥ ९५ ॥
—शास्त्रवार्तासमुच्चय

२९ शक्तिरूप तदन्ये तु सूरय सम्प्रचक्षते ।
अन्ये तु वासनारूप विचित्रफलदं मतम् ॥ ९६ ॥
—शास्त्रवार्तासमुच्चय

कर्त्ता-धर्त्ता ईश्वर की मान्यता मे परिणत होती है और मनुष्य उसे आदर्श मानकर जीवन व्यतीत करता है। हरिभद्र ने सोचा कि मानव-मानस की यह भक्ति या शरणागति की तीव्र उत्कण्ठा असल मे तो कोई बुरी वस्तु नही है। अत. वैसी उत्कट उत्कण्ठाको कोई ठेस न लगे और उसका तर्क एवं बुद्धिवाद के साथ बराबर मेल जम जाय इस तरह ईश्वर-कर्तृत्ववाद का तात्पर्य उन्होने अपनी सूझसे बतलाया। उन्होने कहा कि जो पुरुष अपने जीवन को निर्दोष बनाने के प्रयत्नके परिणामस्वरूप उच्चतम भूमिका पर पहुँचा हो वही साधारण आत्माओ मे परम अर्थात् असाधारण आत्मा है और वही सर्वगम्य एवं अनुभवसिद्ध ईश्वर है। जीवन जीनेमें आदर्शरूप होनेसे वही कर्त्ता के रूप मे भक्ति-पात्र एवं उपास्य हो सकता है।

हरिभद्र, मानो मानव-मानस की गहनता नापते हों इस तरह, कहते है कि लोग जिन शास्त्रो एवं विधि-निषेधोंके प्रति आदरभाव रखते हो वे शास्त्र और वे विधि-निषेध उनके मन यदि ईश्वरप्रणीत हो, तो वे सन्तुष्ट हो सकते हैं और वैसी वृत्ति मिथ्या भी नही है। अत इस वृत्ति का पोषण होता रहे तथा तर्क एवं बौद्धिक समीक्षाकी कसौटी पर सत्य साबित हो ऐसा सार निकालना चाहिये। यह सार, जैसा ऊपर सूचित किया है, स्वप्रयत्न से विशुद्धि के शिखर पर पहुँचे हुए व्यक्ति को आदर्श मानकर उसके उपदेशो मे कर्तृत्व की भावना रखना। हरिभद्र की कर्तृत्व-विषयक तुलना इससे भी आगे जाती है। वह कहते है कि जीवमात्र तात्त्विक दृष्टि से शुद्ध होने के कारण परमात्मा या परमात्मा का अंश है और वह अपने अच्छे-बुरे भावी का कर्त्ता भी है। इस दृष्टि से देखे तो जीव ईश्वर है और वही कर्ता है। इस तरह कर्तृत्ववाद की सर्वसाधारण उत्कण्ठा को उन्होंने तुलना द्वारा विधायक रूप दिया है।[३०]

---

३०. ततश्चेश्वरकर्तृत्ववादोऽय युज्यते परम्।
सम्यग्न्यायाविरोधेन यथाऽऽहु शुद्धबुद्धय ॥ २०३ ॥
ईश्वर परमात्मैव तदुक्तव्रतसेवनात्।
यतो मुक्तिस्ततस्तस्या कर्ता स्याद्गुणभावत ॥ २०४ ॥
तदनासेवनादेव यत्ससारोऽपि तत्त्वत।
तेन तस्यापि कर्तृत्व कल्प्यमान न दुष्यति ॥ २०५ ॥
कर्ताऽयमिति तद्वाक्ये यत केषाचिदादर:।
अतस्तदानुगुण्येन तस्य कर्तृत्वदेशना ॥ २०६ ॥
परमैश्वर्ययुक्तत्वान्मत आत्मैव चेश्वर।
स च कर्तेति निर्दोप कर्तृवादो व्यवस्थित ॥ २०७ ॥
—शास्त्रवार्तासमुच्चय

खण्डनपटु है, किन्तु हरिभद्र तो विरोधी मत की तक-पुरस्सर समीक्षा करने पर भी सम्भव हो वहां कुछ सार निकाल कर उस मत के पुरस्कर्ता के प्रति सम्मानवृत्ति भी प्रदर्शित करते है। क्षणिकवाद, विज्ञानवाद और शून्यवाद इन तीन बौद्ध वादों की समीक्षा करने पर भी हरिभद्र इन वादों के प्रेरक दृष्टिबिन्दुओ को अपेक्षा-विशेष से न्याय्य स्थान देते है और स्वसम्प्रदाय के पुरस्कर्ता ऋषभ, महावीर आदि का जिन विशेषणों से वे निर्देश करते है वैसे ही विशेषणो से उन्होने बुद्ध का भी निर्देश किया है और कहा है कि बुद्ध जैसे महामुनि एवं अर्हत् की देशना अर्थहीन नही हो सकती।[३३] ऐसा कह कर उन्होने सूचित किया है कि क्षणिकत्व की एकांगी देशना आसक्ति की निवृत्ति के[३४] लिए ही हो सकती है, इसी भांति बाह्य पदार्थो मे आसक्त रहने वाले तथा आध्यात्मिक तत्त्व से नितान्त पराङ्मुख अधिकारियो को उद्दिष्ट करके ही बुद्ध ने विज्ञानवाद का उपदेश दिया है[३५] तथा शून्यवाद का उपदेश भी उन्होने जिज्ञासु अधिकारीविशेष को लक्ष्य में रख कर ही दिया है, ऐसा मानना चाहिए।[३६] कई विज्ञानवादी और शून्यवादी बौद्ध आचार्यो के सामने इतर बौद्ध विद्वानो की ओर से प्रश्न उपस्थित किया गया कि तुम विज्ञान और शून्यवाद की ही बाते करते हो, परन्तु बौद्ध पिटको मे जिन स्कन्ध, धातु, आयतन आदि बाह्य पदार्थो का उपदेश है उनका क्या मतलब ? इसके उत्तर मे स्वयं विज्ञानवादियो और शून्यवादियो ने भी अपने सहबन्धु बौद्ध प्रतिपक्षियो से हरिभद्र के जैसे ही मतलब का कहा है कि बुद्ध की देशना अधिकारभेद से है। जो लौकिक स्थूल भूमिका मे होते थे उन्हे वैसे ही और उन्ही की भाषा मे बुद्ध उपदेश देते थे, फिर भले ही उनका अन्तिम तात्पर्य उससे

---

३३ न चैतदपि न न्याय्य यतो बुद्धो महामुनि ।
सुवैद्यवद्विना कार्यं द्रव्यासत्यं न भापते ॥ ४६६ ॥
—शास्त्रवार्तासमुच्चय

३४ अन्ये त्वभिदधत्येवमेतदास्थानिवृत्तये ।
क्षणिक सर्वमेवेति बुद्धेनोक्त न तत्त्वत ॥ ४६४ ॥
—शास्त्रवार्तासमुच्चय

३५. विज्ञानमात्रमप्येवं वाह्यसगनिवृत्तये ।
विनेयान् काश्चिदाश्रित्य यद्वा तद्देशनाऽर्हत ॥ ४६५ ॥
—शास्त्रवार्तासमुच्चय

३६ एव च शून्यवादोऽपि तद्विनेयानुगुण्यत. ।
अभिप्रायत इत्युक्तो लक्ष्यते तत्त्ववेदिना ॥ ४७६ ॥
—शास्त्रवार्तासमुच्चय

भिन्न हो।[३७] प्रारम्भ मे ही बुद्धिभेद नही करना चाहिए और शनै शनै जिज्ञासुओं को गहराई मे ले जाना चाहिए—ऐसी बुद्ध की दृष्टि या नीति थी। जब बौद्ध परम्परा मे भी एक-दूसरे के साथ मेल बैठ न सके और कभी आपस मे एक न हो सके ऐसे विरोधी वाद खडे हुए, तब बौद्ध विद्वानो को भी वे वाद भूमिका-भेद से घटाने पडे। हरिभद्र तो बौद्ध नही है, और फिर भी उन बौद्ध वादो को अधिकार-भेद से योग्य स्थान देकर वे जब यहा तक कहते हैं कि बुद्ध कोई साधारण व्यक्ति नही है, वह तो एक महान् मुनि है, और ऐसा होने से बुद्ध जब असत्यका आभास कराने वाला वचन कहे, तब वे एक सुवैद्य की भाति खास प्रयोजन के विना तो वैसा कह ही नही

---

३७. आत्मेत्यपि प्रज्ञपितमनात्मेत्यपि देशितम् ।
बुद्धैर्नात्मा न चानात्मा कश्चिदित्यपि देशितम् ।। ६ ।।

" यतश्चैव हीनमध्योत्कृष्टविनेयजनाशयनानात्वेन आत्मानात्मतदुभयप्रतिषेधेन बुद्धाना भगवता धर्मदेशना प्रवृत्ता, तस्मान्नास्त्यागमबाधो माध्यमिकानाम् ।

अत एवोक्तमार्यदेवपादै —

वारण प्रागपुण्यस्य मध्ये वारणमात्मन ।
सर्वस्य वारण पश्चाद् यो जानीते स बुद्धिमान् ।।

—नागार्जुनकृत मध्यमककारिका, आत्मपरीक्षा, पृ ३५५ तथा ३५६

सर्वं तथ्य न वा तथ्य तथ्य चातथ्यमेव च ।
नैवातथ्य नैव तथ्यमेतद्बुद्धानुशासनम् ।। ८ ।।

" तथा च भगवतोक्त । लोको मया सार्ध विवदति नाह लोकेन सार्ध विवदामि । यल्लोकेऽस्ति समत तन्ममाप्यस्ति समतम् । यल्लोके नास्ति समत ममापि तन्नास्ति समतमित्यागमाच्च ।

इत्यादित एव तावद् भगवता स्वप्रसिद्धपदार्थभेदस्वरूपविभागश्रवणसजाताभिलाषस्य विनेयजनस्य यदेतत्स्कन्धधात्वायतनादिकमविद्यातैमिरिकै सत्यत परिकल्पितमुपलब्ध तदेव तावत्तथ्यमित्युपवर्णित भगवता तद्दर्शनापेक्षया आत्मनि लोकस्य गौरवोत्पादनार्थम् ।

—मध्यमकवृत्ति, आत्मपरीक्षा, पृ ३६९–७०

देखो 'विग्रहव्यावर्तनी' के निम्नाकित दो श्लोक तथा उनकी व्याख्या —

कुशलाना धर्माणा धर्मावस्थाविदश्च मन्यन्ते ।
कुशल जनस्वभाव शेषेष्वप्येष विनियोग ।।७।।
कुशलाना धर्माणा धर्मावस्थाविदो ब्रुवते यत् ।
कुशलस्वभाव एव प्रविभागेनाभिधेय स्यात् ।।५३।।

सकते।[३८] हरिभद्र की यह महानुभावता, मेरी दृष्टि से, दर्शन-परम्परा मे एक विरल प्रदान है।

५. शान्तरक्षित ने औपनिषदिक आत्मा की परीक्षा मे ब्रह्माद्वैतवाद का जैसा निरसन किया है, वैसा हरिभद्र ने भी किया है। यद्यपि उन्होने षड्दर्शनसमुच्चय मे मीमांसक दर्शन के प्रस्ताव मे ब्रह्मवादी दर्शन का निर्देश तक नही किया, फिर भी जब वे शास्त्रवार्तासमुच्चय मे उस वाद का निरसन करते है, तब ऐसा तो नही कहा जा सकता कि वे उस दर्शन से परिचित नही थे। षड्दर्शनसमुच्चय की रचना उन्होने पहले की हो और उस समय वे ब्रह्मवादी दर्शन से परिचित न हो, ऐसा भी नही माना जा सकता। इसका कारण यह है कि हरिभद्र के समय तक औपनिषद ब्रह्मवाद दूसरे किसी भी दर्शन की अपेक्षा कम प्रसिद्ध नही था। शंकराचार्य के पहले भी अनेक आचार्यों के द्वारा औपनिषद दर्शन ने ठीक-ठीक प्रसिद्धि पाई थी, और ऐसा भी नही लगता कि षड्दर्शनसमुच्चय की रचना हरिभद्र ने अपनी अप्रौढ अवस्था मे की हो। इससे अधिक से अधिक इतना ही कहा जा सकता है कि हरिभद्र के मन प्रतिपाद्य आस्तिक दर्शनो मे जैमिनीय मीमांसाका स्थान प्रधान होगा, क्योकि उस समय कुमारिल आदि के द्वारा पूर्वमीमासा की विशेष प्रतिष्ठा जम चुकी थी। इसीलिए हरिभद्र ने मात्र उसी का वर्णन कर के सन्तोष माना हो। अस्तु, जो कुछ हो।

परन्तु यहा पर भी हरिभद्र शान्तरक्षित से अलग पडते है। हरिभद्र ब्रह्मवाद का निरसन करने के पश्चात् भी उसका अपनी दृष्टि से तात्पर्य बतलाते है। हरिभद्र श्रमण-परम्परा के और समदृष्टि के पुरस्कर्ता है। उन्होने सोचा होगा कि भेद-प्रधान सृष्टि के मूल मे अधिष्ठान या कारण के रूप मे एकमात्र अखण्ड ब्रह्मतत्त्व है ऐसी अद्वैतवादियो की मान्यता विशेषनिरपेक्ष सामान्यदृष्टि से तो सच्ची है, परन्तु सृष्टि मे अनुभूयमान भेद और उसमे से निष्पन्न जीवनगत वैषम्य का स्पष्टीकरण क्या हो सकता है? इस विचार मे से उन्हे ब्रह्माद्वैत का समभाव के साथ मेल बिठाने की सूझ प्रकट हुई होगी। वे कहते है कि शास्त्रो मे जो अद्वैत-देशना है, वह जीवन की साधना मे वैषम्य का निवारण कर के समभाव की स्थापना करती है।[३९] यदि

---

३८. देखो पादटिप्पणी ३३ मे उद्धृत श्लोक।

३९. अन्ये व्याख्यानयन्त्येव समभावप्रसिद्धये।
अद्वैतदेशना शास्त्रे निर्दिष्टा न तु तत्त्वत ॥५५०॥
—शास्त्रवार्तासमुच्चय

ब्रह्माद्वैत की भावना द्वारा जीवन में समता साधने का उद्देश्य न हो तो वह ब्रह्माद्वैत मात्र वाद तक ही रह जाय और योग द्वारा संक्लेश का निवारण कर के विशुद्धि सिद्ध करने की जो बात अध्यात्मशास्त्रों में आती है वह तथा बन्ध-मोक्ष की व्यवस्था कभी घट ही नहीं सके। ऐसे विचार से उन्होंने ब्रह्माद्वैतवाद का निरसन करने पर भी उसका तात्पर्य समता की सिद्धि में सूचित करके ब्राह्मण और श्रमण परम्परा के बीच सुदीर्घ काल से चले आने वाले अन्तर को दूर करने का, दूसरे किसी की अपेक्षा विशेष सारग्राही, प्रयत्न किया है।

व्याख्यान चौथा

योगपरम्परामें आचार्य हरिभद्रकी विशेषता–१

आचार्य हरिभद्र योगसाहित्य और उसकी परम्परामे कौन-कौनसी और कितनी विशेषता लाये है इसका कुछ ख्याल आ सके इस दृष्टि से यह देखना आवश्यक है कि प्राचीन समय से यह परम्परा किस-किस तरह विकसित होती रही है और उसके साहित्य का किस रूप मे निर्माण हुआ है।

ईसा के पूर्व लगभग आठवी शती से लेकर उत्तरवर्ती समय का ख्याल अधिक अच्छी तरह से दे सके ऐसा साहित्य तो उपलब्ध है ही। उसके पहले के समय को लेकर योगका विचार जानना हो तो कुछ अंश मे पुरातत्त्वीय अवशेष और कुछ अंश मे लोक-जीवन मे जिनकी गहरी जड़े जमी है वैसी प्रथाओं तथा पौराणिक वर्णनो का आधार लेना अनिवार्य है। अतिप्राचीन काल मे 'योग' शब्द की अपेक्षा 'तप' शब्द बहुत ही प्रचलित था। ऐसा लगता है कि मानव-जीवन के साथ तप की महिमा किसी-न-किसी रूप मे संकलित रही है। इसीलिए हम देखते है कि कोई ऐसी प्राचीन, मध्ययुगीन अथवा अर्वाचीन धर्मसंस्था विश्व मे नही है कि जिसमे एक या दूसरे रूप मे तप का आदर न होता हो। सिन्धु-संस्कृति के अवशेषो मे जो नग्न आकृतिया मिलती हैं वे किसी-न-किसी तपस्वी की सूचक है, ऐसा सब स्वीकार करते हैं। नन्दी एवं दूसरे सहचर प्रतीको के सम्बन्ध को देखते हुए अनेक विचारक ऐसी कल्पना करते है कि वे नग्न आकृतियां महादेव की सूचक होनी चाहिये।[1] इस देश मे महादेव एक योगी, तपस्वी या अवधूत के रूप में प्रसिद्ध हैं। पौराणिक वर्णनो मे तथा लोक-जिह्वा पर महादेव का जो स्वरूप सुरक्षित है वह इतना तो निस्सन्देह सूचित करता है कि लोक-मानस के ऊपर एक वैसे अद्भुत तपस्वी की अमिट एवं चिरकालीन छाप पड़ी हुई है। महादेव के इस लोकमानस-स्थित प्रतिबिम्ब की तुलना जब हम

---

१ 'इस्टर्न रिलीजन एण्ड वेस्टर्न थॉट' पृ १८ के आधार पर इस वस्तु का निर्देश श्री दुर्गाशंकर शास्त्री ने किया है। देखो 'भारतीय सस्कारोनु गुजरातमा अवतरण' पृ १८; डॉ० हरिप्रसाद शास्त्री . 'हडप्पा अने मोहेंजो दडो' पृ १७३; डॉ० यदुवशी · 'शैवमत' पृ. ६–८; राधाकुमुद मुखर्जी · 'हिन्दू सभ्यता' पृ २३।

ऐतिहासिक एव वर्तमान युग के अनेक साधको के जीवन के साथ करते है, तब इतना तो मालूम पडता है कि महादेव के पौराणिक जीवन के साथ संकलित योगचर्या भारतीय जीवन की प्राचीनतम आध्यात्मिक सम्पत्ति है। इस सम्पत्ति का विकास किस-किस तरह हुआ यह अब हम संक्षेप मे देखे।

जिन-जिन क्रियाओ, आचारो और अनुष्ठानो से असाधारण ओज, वल अथवा शक्ति के प्राकट्य का सम्भव माना जाता है वे सभी क्रियाएं, आचार और अनुष्ठान तप के नाम से व्यवहृत होते आये है। ऐसा ज्ञात होता है कि तप का स्वरूप स्थूल मे से सूक्ष्म की ओर क्रमश विकसित होता गया है और जब तप का सूक्ष्म–अतिसूक्ष्म अर्थ विकसित हुआ और विरल साधको के जीवन मे साकार हुआ, उस समय भी उसके स्थूल और बाह्य अनेक स्वरूप समाज एवं धर्म-सम्प्रदायो में प्रचलित रहे। तप के स्थूल और बाह्य स्वरूप मे कम से कम नीचे लिखी बातो का समावेश होता ही है —
(१) गृहवास का परित्याग करके वन, गुफा, श्मशान अथवा सुनसान जैसे विविक्त स्थानो मे रहना, (२) सामाजिक वेशभूषा का त्याग, जिसके कारण या तो नग्नत्व और यदि वस्त्र धारण किये जाय तो भी वे जीर्ण कन्थाप्राय और अत्यल्प; (३) या तो जटाधारण या फिर सर्वथा मुण्डत्व, (४) अनशन व्रत का आग्रह और अशन करना हो तो उसकी भी मात्रा हो सके उतनी कम और वह भी नीरस, (५) नाना प्रकार के देहदमन। इन और इनके जैसी दूसरी अनेकविध चर्याओ का आचरण तत्कालीन तपस्वी करते थे।[२] ऐसा प्रतीत होता है कि उनका लक्ष्य मुख्यतया मन को

---

२ तपश्चर्याके ये मुद्दे जिसके आधार पर फलित होते है, उसके लिए अधोनिर्दिष्ट साहित्य उपयोगी होगा —

'औपपातिकसूत्र' गत तपवर्णन जिसमे उसके ३५४ भेद बतलाये है, तथा परिव्राजक एव तापसोका वर्णन, 'भगवतीसूत्र' गत 'शिवतापस' शतक ११, उद्देश ९ तथा 'तामली तापस' शतक ३, उद्देश्य १, भगवान महावीर की तपश्चर्याका 'आचाराग' गत वर्णन, अध्याय ९ उपधानश्रुत, बुद्धकी तपश्चर्याका वर्णन · 'मज्झिमनिकाय' अरियपरियेसनसुत्त, महासच्चकसुत्त।

'महाभारत' (चित्रशाला सस्करण) अनुशासन पर्व १४१ ८९–९० में चार प्रकार के भिक्षुओका वर्णन आता है, १४१. ९५–११५ मे वानप्रस्थोका वर्णन है। वैसा ही वर्णन १४२ ४–३३ मे है। पचाग्नितपका उल्लेख १४२–९ मे है, विविध मरणोका उल्लेख १४२ ४४–५९ मे तथा तापसो का वर्णन १४२ ३४ मे है। 'रामायण' मे शम्बूक तापनकी कथा काण्ड ७, अध्याय ६५–६ मे आती है।

'श्रीमद्भागवत' गत ऋषभचरित, स्कन्ध ५, अध्याय ५।

जीतने का और उसके द्वारा कोई ऐहिक या पारलौकिक सिद्धि प्राप्त करने का था; फिर भी बहुत प्राचीनकाल मे तप के ये प्रकार देहदमन की स्थूल क्रियाओ से बहुत आगे विकसित नही हुए थे। परन्तु उनमे विचार का तत्त्व विशेष रूप से प्रविष्ट होने पर वे समझने लगे कि केवल कठोर से कठोर कायक्लेश भी उनका ध्येय सिद्ध नही कर सकता। इस विचार ने उन्हे वाक्-सयम की ओर तथा मन की एकाग्रता साधने के विविध उपायो की शोध करने की ओर भी प्रेरित किया। अनेक साधक स्थूल तप के आचरण मे ही इतिश्री मानते थे, फिर भी कई ऐसे विरल विवेकी तपस्वी भी हुए जो वैसे स्थूल तप को अन्तिम उपाय न मानकर एव उसे एक बाह्य साधन समझकर उसका उपयोग करते रहे तथा मुख्य रूप से मन की एकाग्रता साधने के उपायो मे और मनकी शुद्धि साधने के प्रयत्न मे ही अपनी समग्र शक्ति लगाते रहे। इस प्रकार तपोमार्ग का विकास होता गया और उसके स्थूल-सूक्ष्म अनेक प्रकार भी साधको ने अपनाये। जब तक यह साधना मुख्यतया तप के नाम से ही चालू रही तब तक इसकी तीन शाखाएं अस्तित्व मे आ चुकी थी। वे तीन शाखाएँ है: (१) अवधूत, (२) तापस, और (३) तपस्वी।

अवधूत लोकजीवन और लोकचर्या से सर्वथा विपरीत होता है। इसका वर्णन पौराणिक साहित्य मे बचा है। उसमे भी भागवतपुराण विशेष उल्लेखनीय है। उसके पाँचवे स्कन्ध के पाँचवे और छठे अध्यायो मे एक अवधूत के रूप मे नाभिनन्दन ऋषभदेव की चर्या का वर्णन आता है[३], और ग्यारहवे स्कन्ध मे चौबीस

---

३ "......भरत धरणिपालनायाभिषिच्य स्वय भवन एवोर्वरितशरीरमात्रपरिग्रह उन्मत्त इव गगनपरिधान प्रकीर्णकेश आत्मन्यारोपिताहवनीयो ब्रह्मावर्तात् प्रवव्राज ॥ २८ ॥

जडान्धमूकवधिरपिशाचोन्मादकवदवधूतवेषोऽभिभाष्यमाणोऽपि जनाना गृहीतमौनव्रत-स्तूष्णीबभूव ॥ २९ ॥

तत्र तत्र पुरग्रामाकरखेटवाटखर्वटशिबिरव्रजघोषसार्थगिरिवनाश्रमादिष्वनुपथमवनि-चरापसदै परिभूयमानो मक्षिकाभिरिव वनगजस्तर्जनताडनावमेहनष्ठीवनग्रावशकृद्रज प्रक्षेप-पूतिवातदुरुक्तैस्तदविगणयन्नेवासत्सस्थान एतस्मिन् देहोपलक्षणे सदपदेश उभयानुभवस्वरूपेण स्वमहिमावस्थानेनासमारोपिताहममाभिमानत्वादविखण्डितमना पृथिवीमेकचर परिबभ्राम ॥ ३० ॥

..... परागवलम्बमानकुटिलजटिलकपिशकेशभूरिभारोऽवधूतमलिननिजशरीरेण ग्रह-गृहीत इवादृश्यत ॥ ३१ ॥

यर्हि वाव स भगवान् लोकमिम योगस्याद्धा प्रतीपमिवाचक्षाणस्तत्प्रतिक्रियाकर्म वीभत्सितमिति व्रतमाजगरमास्थित शयान एवाश्नाति पिबति खादत्यवमेहति हदति स्म चेष्ट-मान उच्चरित आदिग्धोद्देश ॥ ३२ ॥

पूरा करने वाले अवधूत दत्त की चर्या का उल्लेख आता है। अवधूत का संक्षेप में अर्थ इतना ही है कि मनुष्य होने पर भी बुद्धिपूर्वक मानवसमाज की प्रचलित चर्या का परित्याग करके पशु-पक्षी जैसा निरवद्य जीवन जीने वाला साधक। जैन पुराणों में भी ऋषभदेव का प्रथम तीर्थंकर के रूप में स्थान है ही।[५] उसमें भागवत जैसा अजगर, गाय, मृग अथवा काक जैसी चर्या का वर्णन तो नहीं आता, परन्तु जो उत्कट तप का वर्णन आता है वह इतना तो सूचित करता ही है कि ऋषभदेव ने सर्वथा निर्मम होकर जीवन जीने वाले किसी विशिष्ट अवधूत के रूप में लोकादर प्राप्त किया था।

...... एवं गोमृगकाकचर्यया व्रजंस्तिष्ठन्नासीनः शयानः काकमृगगोचरितः पिबति खादत्यवमेहति स्म ॥ ३४ ॥

इति नानायोगचर्याचरणो भगवान् कैवल्यपतिर्ऋषभोऽविरतपरममहानन्दानुभव आत्मनि सर्वेषां भूतानामात्मभूते भगवति वासुदेव आत्मनोऽव्यवधानानन्तरोदरभावेन सिद्धसमस्तार्थपरिपूर्णो योगैश्वर्याणि वैहायसमनोजवान्तर्धानपरकायप्रवेशदूरग्रहणादीनि यदृच्छयोपगतानि नाञ्जसा नृप हृदयेनाभ्यनन्दत् ॥ ३५ ॥

—श्रीमद् भागवत स्कंध ५. अध्याय ५

अध्याय ६ के श्लोक ६ से १६ में भी यह चर्चा आती है।

४. 'श्रीमद्भागवत' स्कंध ११, अध्याय ७, श्लोक ३३–५ में २४ गुरुओं के नाम हैं। इसके पश्चात् उनका वर्णन करके कौन-कौन से गुण उनसे सीखे उनका वर्णन है।

५. उसहे णामं अरहा कोसलिए पढमराया पढमजिणे पढमकेवली पढमतित्थयरे पढमधम्मवरचक्कवट्टी समुप्पज्जित्थे।

—जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति सटीक पृ. १३५, सूत्र ३०

इसके अतिरिक्त देखो 'वसुदेवहिण्डी' पृ. १५७—६८, तथा 'चउप्पन्नमहापुरिसचरियं' में ऋषभचरित पृ. ४०—१।

प्रजापतिर्यः प्रथमं जिजीविषूः शशास कृष्यादिषु कर्मसु प्रजाः ।
प्रबुद्धतत्त्वः पुनरद्भुतोदयो ममत्वतो निर्विविदे विदांवरः ॥
विहाय यः सागरवारिवाससं वधूमिवेमां वसुधावधूं सतीम् ।
मुमुक्षुरिक्ष्वाकुकुलादिरात्मवान् प्रभुः प्रवव्राज सहिष्णुरच्युतः ॥
स्वदोषमूलं स्वसमाधितेजसा निनाय यो निर्दयभस्मसात्क्रियाम् ।
जगाद तत्त्वं जगतेऽर्थिनेऽञ्जसा बभूव च ब्रह्मपदामृतेश्वरः ॥
स विश्वचक्षुर्वृषभोऽर्चितः सतां समग्रविद्यात्मवपुर्निरञ्जनः ।
पुनातु चेतो मम नाभिनन्दनो जिनोऽजितक्षुल्लकवादिशासनः ॥

—स्वयंभूस्तोत्र, १. २–५

आदिमं पृथिवीनाथमादिमं निष्परिग्रहम् ।
आदिमं तीर्थनाथं च ऋषभस्वामिनं स्तुमः ॥

—त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र, १. १.३

प्राचीन-समय की यह अवधूत-परम्परा महादेव, दत्त अथवा वैसे किसी पौराणिक योगी के नाम पर प्रचलित पथो मे किसी-न-किसी रूप मे आज भी बची हुई है। अवधूतगीता यद्यपि एक अर्वाचीन ग्रन्थ है, फिर भी उसमे अवधूत का थोडा परिचय प्राप्त हो सके ऐसी बाते[६] भी उल्लिखित है। जैन और बौद्ध परम्परा मे भी इस अवधूत का स्वरूप सुरक्षित रहा है और उच्च प्रकार की आध्यात्मिक साधना के एक उपाय के रूप मे इस चर्या का आदर किया गया है। आचारांग, जो उपलब्ध जैन आगमो मे सर्वाधिक प्राचीन समझा जाता है, उसमे एक अध्ययन (प्रथम श्रुतस्कन्ध का छठा अध्ययन) आता है जिसका नाम ही 'धूत' है। उसमे उत्कट त्यागी की जीवनचर्या के उद्गार आते हैं, जो कि जैन-परम्परा मे अन्यत्र वर्णित ऋषभदेव अथवा महावीर के जीवन की झाँकी कराते है। बौद्ध-परम्परा मे यद्यपि जैन-परम्परा की भाँति, तप अथवा देहदमन के ऊपर भार नहीं दिया गया, तथापि उसमे भी समाधि के अभिलाषी के लिए प्रथम कैसा जीवन आवश्यक है यह बतलाने वाले तेरह धूतांगो का विस्तार से वर्णन मिलता ही है।[७] धूताध्ययन मे आने वाली जैन चर्या, धूतांगो के वर्णन मे आने वाली बौद्ध-चर्या तथा अवधूत-परम्परा के वर्णन मे आने वाली अवधूत योगी की चर्या इन तीनों का तुलनात्मक अध्ययन करने वाले को ऐसा ज्ञात हुए बिना नही रहेगा कि ये तीनों शाखाएँ मूल मे एक ही परम्परा के तीव्र-मृदु आविर्भाव है, जैन और बौद्ध परम्परा मे अवधूत के स्थान मे 'धूत' इतना ही पद प्रयुक्त हुआ है। ऐसा होने पर भी प्राचीन 'अवधूत' पद तपस्वी, योगी या उत्कट साधक के अर्थ मे इतना अधिक रूढ हो गया है कि कबीर और जैन साधक आनन्दघन जैसे भी अपनी कृतियो मे 'अवधू' पद का बार-बार प्रयोग करते है।[८]

---

६ शून्यागारे समरसपूतस्तिष्ठन्नेक सुखमवधूत ।
चरति हि नग्नस्त्यक्त्वा गर्वं विन्दति केवलमात्मनि सर्वम् ॥
—अवधूतगीता अ १, श्लोक ७३

७. विसुद्धिमग्ग धूतंगनिद्देस, पृ ४० ।

८. कबीर—
अवधू कुदरत की गति न्यारी ।
रक निवाज करे वह राजा भूपति करै भिखारी ॥१२॥
अवधू छोड्हू मन विस्तारा ।
सो पद गहो जाहि ते सद्गति पार ब्रह्म ते न्यारा ॥१३॥
अवधू अन्ध कूप अंधियारा ।
या घट भीतर सात समुन्दर याहि मे नद्दी नारा ॥७७॥

जैन आगमो मे अनेक स्थानो पर तापसो का वर्णन आता है।[९] महाभारत[१०] एवं पुराणो मे[११] भी तापसो के आश्रमो का वर्णन आता है। इन तापसों की चर्या विशेष देहदमनपरायण होने पर भी अवधूतो की अपेक्षा कुछ कम उग्र होती है। तापस भी नग्न अथवा नग्न जैसे रहते, मूल, कंद, फल आदि के द्वारा निर्वाह करते और यदि अन्न लेते भी तो भिक्षा के द्वारा लेते। अवधूत कपाल—खोपडी रखते, तो तापस सिर्फ लकडी का अथवा वैसा कोई पात्र रखते और कई तो पाणिपात्र भी होते और भिक्षाटन करते। इनमे से अनेक तापस पचाग्नि तप करते[१२] और किसी-न-किसी प्रकार का सादा अथवा उग्र जीवन जीकर मन को वश मे लाने का प्रयत्न करते। अधिक जाडा और अधिक गरमी सहन करना—यह उनकी खास तपोविधि थी। आज भी ऐसे तापस अकेले-दुकेले और कभी-कभी समूह मे मिलते ही हैं। परन्तु अवधूत और तापस वर्ग की तपश्चर्या मे भी सुधार होने लगा। पंचाग्नि तप के स्थान पर मात्र सूर्य का आतप लेना ही इष्ट माना गया। चारो दिशाओ मे लकडियाँ जलाकर तप करने मे हिंसा का तत्त्व मालूम पडने पर उस विधि का परित्याग किया गया। पत्र, फल, मूल, कन्द जैसी वनस्पति पर निर्वाह करना भी वानस्पतिक जीवहिंसा की दृष्टि से त्याज्य समझा गया। जटा धारण करने पर जूँ या लीख का होना सम्भव है, इस विचार से सर्वथा मुण्डन इष्ट माना गया, और उस्तुरे से सर्वथा मुण्डन कराने के बजाय अपने हाथ से ही बालो को खीचकर लुञ्चन करना निरवद्य समझा गया।

अवधू भूले को घर लावै सो जन हमको भावै।
घरमे जोग भोग घर ही मे घर तजि वन नहिं जावै ॥१११॥

—कबीर वचनावली, द्वितीय खण्ड

आनन्दघन—

अवधू नट नागर की बाजी जाणें न बाभण काजी ॥५॥
अवधू क्या सोवे तन मठ मे जाग विलोकन घट मे ॥७॥
अवधू राम राम जग गावे, विरला अलख लगावे ॥२७॥

—श्री मोतीचन्द गि कापडिया द्वारा सपादित "श्री आनन्दघनजीना पदो"

९ 'भगवती' गत अवतरणो के लिए देखो प्रस्तुत व्याख्यान की पादटीप २। इसके अतिरिक्त देखो 'चउप्पन्नमहापुरिसचरिय' पृ० ४०, 'वसुदेवहिण्डी' पृ० १६३।

१०. 'महाभारत' के लिए देखो प्रस्तुत व्याख्यान की पादटीप २।

११ पुष्कर तीर्थ की उत्पत्ति के प्रसग मे वन का वर्णन 'पद्मपुराण' मे आता है, जिसमे देवो द्वारा की गई तपश्चर्या का उल्लेख है। देखो 'पद्मपुराण' अध्याय १५, श्लोक २२। पुष्कर तीर्थ मे रहनेवाले तपस्वियो के वर्णन के लिए देखो 'पद्मपुराण' अध्याय १८, श्लोक ६८ से।

१२ 'महाभारत' अनुशासनपर्व १४२ ६।

इस प्रकार तापस प्रथा मे अहिसा की दृष्टि से[13] जो विशेष सुधार अथवा परिवर्तन हुए वे तपस्वी-मार्ग के रूप मे प्रसिद्ध हुए। तपस्वी-मार्ग अहिसा की दृष्टि से तापस-मार्ग का ही एक संस्करण है। पार्श्वनाथ और खास कर के महावीर इस तपस्वी-मार्ग के पुरस्कर्ता है। जैन आगमो मे जो प्राचीन वर्णन बच गये है उनमे तापस और तपस्वी के जीवन की भेदरेखा[14] स्पष्ट है। तपस्वी-जीवन मे उत्कट, उत्कटतर और उत्कटतम तप के लिए स्थान है, परन्तु उसमे मुख्य दृष्टि यह रही है कि वैसे तप का आचरण करते समय सूक्ष्म जीव तक की विराधना न हो। इस तरह हमने संक्षेप मे देखा कि महादेव के पौराणिक जीवन से लेकर महावीर के ऐतिहासिक वर्णन तक तप की बाह्य चर्या मे उत्तरोत्तर कैसा सुधार अथवा परिवर्तन होता गया है। इस सुधार या विकास का समग्र चित्र भारतीय वाङ्मय मे उपलब्ध होता है।

तपोमार्ग का वर्णन पूरा करके आगे विचार करे उससे पहले तीन ऐतिहासिक तीर्थंकरो की जीवनचर्या की तुलना हम सक्षेप मे करे। बुद्ध, गोशालक और महावीर ये तीनों समकालीन थे। उस समय उत्तर एवं पूर्व भारत के विशाल प्रदेश पर श्रमणों एवं परिव्राजको के अनेक समूह विचरते थे। वे सब अपने-अपने ढंग से उत्कट या मध्यम प्रकार का तप करते थे। गृह का परित्याग किया तब से बुद्ध तप करने लगे। उन्होने स्वमुख से अपनी तपश्चर्या का जो वर्णन किया है, और जो ऐतिहासिक दृष्टि से बहुत महत्त्व का है, उसमे स्वयं उनके द्वारा आचरित नाना प्रकार के तपो का निर्देश है।[15] उस निर्देश को देखते हुए ऐसा कहा जा सकता है कि अवधूतमार्ग मे जिस प्रकार के तपो का आचरण किया जाता था, वैसे ही तप बुद्ध ने किये थे। अवधूतमार्ग मे पशु और पक्षी के जीवन का अनुकरण करने वाले तप विहित है। बुद्ध ने वैसे ही उग्र तप किये थे। गोशालक और महावीर दोनो तपस्वी तो थे ही, परन्तु उनकी तपश्चर्या मे न तो अवधूतो की और न तापसो की विशिष्ट तपश्चर्या का

---

१३. देखो 'चउप्पन्नमहापुरिसचरिय' के अतर्गत पासनाहचरिय मे कमठप्रसग, पृ० २६१–२, 'त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित' पर्व ९, सर्ग ३, श्लोक २१४–३०।

१४ तापसका एक अर्थ 'तापप्रधान तापस' ऐसा भी होता है, और तपस्वी शब्द के विविध अर्थो मे 'प्रशस्ततपोयुक्त' एव 'प्रशस्ततपोऽन्वित' ऐसे अर्थ भी दिये गये है, जिससे तापस की अपेक्षा तपस्वी भिन्न होता है ऐसा सूचन उपलब्ध होता है। देखो 'अभिधानराजेन्द्र' मे 'तवस्सि' और 'तावस' शब्द।

पचाग्नि तप के स्थान पर तपस्वियो ने जिस आतापना को स्वीकार किया वह यह थी 'आयावयन्ति गिम्हेसु'–दशवैकालिकसूत्र ३ १२।

१५ देखो प्रस्तुत व्याख्यान की पादटीप २।

अंग था। दोनों तीर्थनायक देहदमन के ऊपर भार देते थे, नग्न विचरण करते थे, श्मशान और शून्य गृहों में एकाकी रहते थे, शुष्क एवं नीरस आहार लेते थे और लम्बे लम्बे उपवास भी करते थे;[16] फिर भी उन्होंने कभी बुद्ध के जैसे तप एवं व्रतों का आचरण नहीं किया। अन्त में बुद्ध इस तपोमार्ग का परित्याग करके दूसरे मार्ग का अवलम्बन लेते हैं, किन्तु गोशालक और महावीर दोनों तपश्चर्या का अन्त तक आश्रय लेते हैं। इस बात का विश्लेषण करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि बुद्ध तप की उत्कट कोटि तक पहुँचे थे परन्तु जब उसका परिणाम उनके लिए सन्तोषप्रद न आया तब वह ध्यानमार्ग की ओर अभिमुख हुए और तप को निरर्थक मानने-मनवाने लगे।[17] शायद यह उनके अत्यन्त उत्कट देहदमन की प्रतिक्रिया हो; परन्तु गोशालक और महावीर के बारे में ऐसा नहीं है। उन्होंने उग्र तप के साथ पहले ही से ध्यान जैसे अन्तस्तल के ऊपर पूरा लक्ष दिया था और उन्होंने ऐसा भी कहा कि बाह्य तप चाहे जितना कठोर हो, परन्तु उसकी सार्थकता अन्तस्तल पर अवलम्बित है। इसीलिए उन्होंने अपने तपोमार्ग में बाह्य तप को अन्तस्तल के एक साधन के रूप में ही स्थान दिया।[18] सम्भवतः इसी कारण उनमें प्रतिक्रिया न हुई। गोशालक का जो जीवन-वृत्त मिलता है वह तो बौद्ध और जैन ग्रन्थों के द्वारा ही मिलता है; फिर भी उसमें से इतना सार तो निकलता ही है कि गोशालक स्वयं तथा उनका आजीवक श्रमण-संघ नग्नत्व के[19] ऊपर अधिक भार देता था।

---

१६. गोशालक के लिए देखो 'भगवतीसूत्र' शतक १५ तथा 'भगवतीसार' पृ० २८०, २८४–५।

१७. बुद्ध की तपस्या और उसकी निरर्थकता जो उन्हें ज्ञात हुई उसके बारे में देखो 'मज्झिमनिकाय' के चूळदुक्खक्खंधसुत्त, महासीहनादसुत्त और अरियपरियेसनसुत्त तथा 'बुद्धचरित' (धर्मानन्द कोसम्बीकृत) में तद्विषयक प्रकरण पृ० १३४।

तुलना करो—

तपस्विभ्योऽधिको योगी। — भगवद्गीता ६.४६

१८. देखो 'आचारांगसूत्र' के अध्ययन ९ के अधोनिर्दिष्ट स्थान—

अदु पोरिसिं तिरियं भित्तिं चक्खुमासज्ज अंतसो झायइ (४६); राइं दिवं पि जयमाणे अप्पमत्ते समाहिए झाइ (६८); अकसाई विगयगेही य सद्दरूवेसु अमुच्छिए झाइ (१०९)।

सिद्धान्त के रूप में बाह्य तप की अपेक्षा आभ्यन्तर तप का ही अधिक महत्त्व माना गया है—

बाह्यं तपः परमदुश्चरमाचरस्त्व-
माध्यात्मिकस्य तपसः परिबृंहणार्थम्।
—स्वयम्भूस्तोत्र १७.३

१९. देखो 'भगवतीसार' पृ० २८१।

बुद्ध, गोशालक और महावीर की भाति दूसरे भी अनेक श्रमण-धर्म के नायक उस समय थे। उनमे सांख्य परिव्राजको का विशिष्ट स्थान था। वे परिव्राजक भी तप-त्याग के ऊपर भार तो देते ही थे, फिर भी उनमे कितने ही ऐसे साधक भी थे जो मुख्य रूप से ध्यानमार्गी थे और ध्यान एवं योग के विविध मार्गो का अनुसरण करते थे। स्वयं बुद्ध ने ही वैसे साख्य गुरुओ के पास ध्यान की शिक्षा ली थी।[२०] उतने से जब उन्हे सन्तोष न हुआ तब ध्यान की दूसरी कई नई पद्धतियो का भी उन्होने प्रयोग किया। इस प्रकार बुद्ध से ही ध्यानलक्षी बौद्ध-परम्परा का प्रारम्भ हुआ। साख्य परिव्राजकों की ध्यान-प्रक्रिया योग के नाम से विशेष प्रसिद्ध हुई और बुद्ध की ध्यान-प्रक्रिया समाधि के नाम से व्यवहृत हुई, तो आजीवक और निर्ग्रन्थ परम्परा की साधना तप के नाम से पहचानी जाती है; फिर भी निर्ग्रन्थ-परम्परा मे इसके लिए 'संवर' शब्द विशेष प्रचार मे आया है। इस तरह हम कह सकते है कि योग, समाधि, तप और संवर ये चार शब्द आध्यात्मिक साधना के समग्र अंग-उपागो के सूचक है और इसी रूप मे वे व्यवहार मे प्रतिष्ठित भी हुए हैं।

प्रत्येक आध्यात्मिक साधक अपनी साधना किसी-न-किसी प्रकार के तत्त्वज्ञान का अवलम्बन लेकर ही करता था। तत्त्वज्ञान की मुख्य तीन शाखाएँ है—(१) प्रकृति-पुरुष द्वैतवादी, (२) परमाणु और जीव बहुत्ववादी, और (३) अद्वैत ब्रह्मवादी। जो साधना योग के नाम से प्रख्यात हुई है उसके साथ मुख्यतया प्रकृति-पुरुष द्वैतवाद का सम्बन्ध देखा जाता है; समाधि, तप और संवर के नाम से जो साधना प्रसिद्ध हुई उसके साथ परमाणु एवं जीवबहुत्ववाद का सम्बन्ध रहा है, और जो साधना वेदान्त के नाम से व्यवहृत हुई उसके साथ मुख्यत अद्वैत ब्रह्मवाद का सम्बन्व दृष्टि-गोचर होता है।

इस प्रकार तत्त्वज्ञान का भेद तो था ही और साधना के नामो मे भी भेद चलता था, फिर भी इन साधनाओ के मार्गों एवं अंगो के ऊपर जब हम विचार करते हैं तब ऐसा ज्ञात होता है कि किसी ने अपनी साधना मे अमुक अंग अथवा पद्धति को प्राधान्य दिया है, तो दूसरे ने दूसरे अंग अथवा पद्धति पर भार दिया है। उनमे फर्क सिर्फ गौण-मुख्यभाव का ही है, परन्तु ऐसी कोई आध्यात्मिक साधना

---

२०. देखो 'मज्झिमनिकाय' मे महासच्चकसुत्त। अश्वघोषने 'बुद्धचरित' काव्य मे आलार कालाम और उद्दक रामपुत्र को, जिनके पास बुद्ध ने सर्वप्रथम योग सीखा था, साख्यमत के प्रवर्तक कहा है। विशेष चर्चा के लिए देखो श्री धर्मानन्द कोसम्बी का 'बुद्धचरित' पृ० १०।

नही दीख पडती जिसमे साधना के अंग के रूप मे विकसित आचार एव विचार का, एक अथवा दूसरे रूप मे, समावेश न हुआ हो।

तत्त्वज्ञान, सम्प्रदाय और साधको की भिन्नता होने पर भी आध्यात्मिक साधना एक ही है—ऐसा जब हम कहते हैं तब उसका भाव क्या है यह समझ लेना हमारे लिए आवश्यक है। जीवन के साथ अनिवार्य रूप से संलग्न एवं संकलित जो जो मांगलिक तत्त्व हैं उन्हे आवृत करने वाले मल या क्लेशो के निवारण का सतत प्रयत्न ही आध्यात्मिक साधना है। इस साधना मे मुख्यतः भक्ति, क्रिया—कर्मशक्ति, ध्यान और ज्ञान इन चार चित्तगत गुणो का विकास करने का होता है। ईश्वर, वीतराग अथवा अन्य किसी उदात्त आदर्श को सतत सम्मुख रखकर निष्ठापूर्वक जीवनव्यवहार चलाना भक्तियोग है। शारीरिक और मानसिक जीवन इस तरह जीना कि जिससे शरीर नीरोग और सबल रहे और साथ ही मन क्लेशो के आघात का अनुभव न करे, इसी भाति साधक जिस समाज या समष्टि मे रहता हो उस समाज या समष्टि को अपने आचार-विचार से त्रास या बाधा न पहुँचाना—ऐसी जीवन-कला क्रिया अथवा कर्मयोग है। बाह्य आकर्षक भोग्य विषयो मे सतत प्रवृत्तिशील मन को इन्द्रियो के अनुगमन अथवा परतन्त्रता से मुक्त करके इस तरह स्थिर करना जिससे कि इन्द्रियाँ स्वयं ही मन की अनुगामी या मन के अधीन बनें—यह ध्यान-योग है। इन तीनो योगो के द्वारा मन की ज्ञान-कला यहाँ तक विकसित करनी कि उसके द्वारा मन अपना भीतरी स्वरूप बराबर समझ-बूझ सके और कौन-कौन से क्लेश किस-किस तरह काम करते हैं तथा वे अपने और दूसरे के जीवन मे किस तरह बाधक होते है यह यथार्थ रूप मे समझ सके, तथा इन क्लेशों की जड क्या है और वह कैसी है उसे पकड सके—यह ज्ञानयोग है। पातंजल योगशास्त्र के प्रथम पाद में ईश्वरप्रणिधान,[२१] वीतरागध्यान[२२] और जप[२३] जैसे विधानो से भक्तियोग सूचित किया गया है। दूसरे पाद मे तप, स्वाध्याय और यम-नियम के जिन स्वरूपो का वर्णन किया है तथा पहले पाद मे मैत्री, करुणा आदि जिन चार भावनाओ का निर्देश है उनके द्वारा कर्मयोग सूचित होता है। प्रथम पाद मे एक-तत्त्वाभ्यास से प्रारम्भ करके स्थूल, सूक्ष्म, अणु अथवा महत् किसी भी विषय मे मन को रोकने का और अनुक्रम से इस धारणा की स्थिति से समाधि तक की स्थिति

---

२१ 'योगसूत्र' १ २३, २ १, ४५।
२२. 'योगसूत्र' १ ३७।
२३. 'योगसूत्र' १.२८।

साधने की जिस विधि का निरूपण है वह ध्यानयोग है। अन्तर्निरीक्षण के द्वारा अपने मे पडे हुए क्लेश और उनसे अभिभूत साहजिक शक्तियों का पृथक्करण कर सके ऐसे विवेकजन्य ज्ञान को सिद्ध करने वाले संयम का तीसरे पाद मे सूचन है; वह ज्ञानयोग है। इस प्रकार पातंजल योगशास्त्र इन चतुर्विध योग का निरूपण करनेवाला एक अविकल योगशास्त्र है।

पतंजलि ने अपने सुपठ और पारदर्शी सूत्रो मे उक्त चार योगो को केन्द्र मे रखकर समग्र चर्चा की है। उनकी यह चर्चा पूर्वकालीन अनेक योगशास्त्रो के दोहन का और स्वानुभव का परिणाम है। पतंजलि के पहले अनेक साख्य-योगी हो चुके है। उनमे से हिरण्यगर्भ का नाम प्रमुख है।[२४] उसका शास्त्र अथवा उपदेश हिरण्यगर्भ योग कहा जाता है। उसका समय निश्चित नही है, परन्तु वह बहुत ही प्राचीन है, यह तो निःशंक है। हिरण्यगर्भ के योगशास्त्र से चली आने वाली सांख्यावलम्बी योगप्रथा भगवद्गीता मे बहुत ही स्पष्ट और काव्यमय शैली मे वर्णित है। इस प्रकार भगवद्गीता और पातजल योगशास्त्र ये दो ग्रन्थ ऐसे है जो साख्यतत्त्वावलम्बी योगप्रक्रिया का पूर्ण प्रतिनिधित्व करते है।

बुद्ध ने अपने ध्यानमार्ग का विकास साधा और उससे सम्बन्ध रखने वाली जिन जिन चर्याओ का सूचन किया है वे पालि पिटको मे इतस्ततः बिखरी हुई है, परन्तु इन सब छोटी-बड़ी, सूक्ष्म-स्थूल बातों का योग्य संग्रह बुद्धघोष ने अपने विशुद्धि-मार्ग नामक ग्रन्थ मे किया है। उसमे शील एवं समाधि के जो प्रकरण हैं उनमे बौद्ध समाधिशास्त्र का पूर्ण हार्द आ जाता है। बुद्धघोष के इस स्थविरमार्गी ग्रन्थ के अतिरिक्त महायान परम्परा मे भी इस विषय के अनेक ग्रन्थ हैं जिनमे समाधिराज, दशभूमिशास्त्र और बोधिचर्यावतार विशेष उल्लेखनीय हैं। स्थविरवादी और महायानी परम्परा के ये ग्रन्थ बौद्ध तत्त्वावलम्बी समाधिमार्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं।

---

२४ 'महाभारत' मे कृष्ण अपने आपको हिरण्यगर्भ कहते हैं और 'योगो के द्वारा' वे पूजित है ऐसा सूचित करते है—

हिरण्यगर्भो द्युतिमान् य एषच्छन्दसि स्तुत ।
योगै. सम्पूज्यते नित्य स एवाह भुवि स्मृतः ॥
—शान्तिपर्व २४२ ९६

'सागयोगदर्शन—भास्वती' का प्रारम्भ इस प्रकार होता है—
"स्मर्यते च—हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता नान्य पुरातन ।" पृ० १
'योगकारिका' —"शिष्टा हिरण्यगर्भेण चर्षिभि पारदर्शिभि ॥५॥"

पार्श्वनाथ से प्रचलित और महावीर द्वारा पुष्ट तपोमार्ग की साधना 'संवर' के नाम से प्रसिद्ध है। इस संवर के भिन्न-भिन्न अंग आगम मे उपलब्ध होते हैं, परन्तु इन सभी अंग-प्रत्यंगो का सुश्लिष्ट संकलन वाचक उमास्वाति ने अपने तत्त्वार्थाधिगम-सूत्र मे किया है। यह एक ही ग्रन्थ जैनतत्त्वज्ञानावलम्बी साधनामार्ग का संपूर्ण प्रतिनिधित्व करता है। बौद्ध एव जैन परम्परा के जिन जिन ग्रन्थो का ऊपर निर्देश किया है उनमे वस्तुत. पातंजल योगशास्त्र मे निरूपित चतुर्विध योग की प्रक्रिया का ही शब्दान्तर से अथवा परिभाषा के भेद से निरूपण है। अतएव ऐसा कहा जा सकता है कि सभी आध्यात्मिक साधनाएँ किसी एक ही मूलगत प्रेरणा के आविर्भाव हैं।

विक्रम की आठवी-नवी शती मे होनेवाले हरिभद्र को उपर्युक्त तथा अन्य भी अध्यात्म-विषयक विशाल साहित्य का उत्तराधिकार प्राप्त हुआ था, जिसके प्रमाण उनके अपने ही योग-विषयक मूल ग्रन्थ तथा स्वोपज्ञ व्याख्याओ में से उपलब्ध होते हैं। हरिभद्र के पास केवल साहित्यिक उत्तराधिकार ही था ऐसा भी नही है। उनके योग-विषयक विविध विचार और प्रतिपादन के ऊपर से ऐसा नि.शंक प्रतीत होता है कि वे योगमार्ग के अनुभवी भी थे। इसीसे उन्होंने स्वानुभव तथा साहित्यिक विरासत के बल पर योग विषय से सम्बद्ध ऐसी कृतियो की रचना की है, जो योग-परम्परा-विषयक आज तक के ज्ञात साहित्य में अनोखी विशेषता रखती है। तत्त्वज्ञान-विषयक अपने ग्रन्थो मे उन्होने तुलना एवं बहुमानवृत्ति द्वारा जो समत्व दर्शाया है उस समत्व की पराकाष्ठा तो उनके योग-विषयक ग्रन्थों मे प्रकट होती है। इसके अतिरिक्त उनके योग-ग्रन्थो मे दो मुद्दे ऐसे आते हैं जो उनको छोडकर अन्य किसी की भी कृति में मैंने वैसे स्पष्ट नही देखे। उनमे से पहला मुद्दा है : अपनी परम्परा को भी अभिनव दृष्टि का कडुआ घूंट पिला कर उसे सबल और सचेतन बनाना, और दूसरा मुद्दा है : भिन्न-भिन्न पंथो और सम्प्रदायो के बीच संकीर्ण दृष्टि के कारण, अपूर्ण अभ्यास के कारण तथा परिभाषाभेद को लेकर उत्पन्न होनेवाली गलतफहमी के कारण जो अन्तर चला आता था और उसका संवर्धन एवं पोषण होता रहता था उसे दूर करने का यथाशक्ति प्रयत्न। हरिभद्र की इस विशेषता का मूल्यांकन करने के लिए उनके चार ग्रन्थों का विहंगावलोकन करना यहाँ उपयुक्त होगा। उनके इन चार ग्रन्थो मे से दो प्राकृत भाषा में हैं, तो दूसरे दो संस्कृत मे हैं। प्राकृत भाषा मे लिखित योगविंशिका और योगशतक मुख्य रूप से जैन-परम्परा की आचार-विचार प्रणालिका का अवलम्बन लेकर लिखे गये हैं; परन्तु ऐसा लगता है कि इन कृतियो के द्वारा जैनपरम्परा के रूढ़ मानस को विशेष उदार बनाने का उनका आशय होगा। इसीसे उन्होने योग-विंशिका में जैन-परम्परा में प्रचलित चैत्यवन्दन जैसी दैनिक क्रिया का आश्रय लेकर

उसमे ज्ञानयोग, कर्मयोग तथा प्रीति, भक्ति आदि तत्त्व, जो कि इतर योग-परम्परा मे बहुत प्रसिद्ध है, घटाये है। इतना ही नही, उन्होंने रूढिवादियो को यह भी सुना दिया है कि बहुजनसम्मति होना सच्चे धर्म अथवा तीर्थ का लक्षण नही है। सच्चा धर्म और सच्चा तीर्थ तो किसी एक मनुष्य की विवेकदृष्टि मे होता है। ऐसा कहकर उन्होंने लोकसंज्ञा अथवा 'महाजनो येन गत स पन्था' का प्रतिवाद किया है।[२५] यह एक आध्यात्मिक निर्भयता है।

योगशतक

योगशतक मे जैनो के धार्मिक जीवन को लक्ष्य मे रखकर विचार किया गया है। जिस प्रकार वैदिक-परम्परा मे ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ एवं संन्यास ये चार आश्रम है, उसी प्रकार यथार्थ जैन-जीवन के चार क्रम-विकासी विभाग है। जैनत्व जाति से, अनुवंश से अथवा किसी प्रवृत्तिविशेष से नही माना गया है, परन्तु वह तो आध्यात्मिकता की भूमिका के ऊपर निर्भर है। जब किसी व्यक्ति की दृष्टि मोक्षाभिमुख होती है तब वह जैनत्व की प्रथम भूमिका है। इसका पारिभाषिक नाम अपुनर्बन्धक है। मोक्ष के प्रति सहज श्रद्धा-रुचि और उसकी यथाशक्ति समझ-यह सम्यग्दृष्टि नाम की दूसरी भूमिका है। जब वह श्रद्धा—रुचि एवं समझ आंशिक रूप से जीवन मे उतरती है तब देशविरति नाम की तीसरी भूमिका होती है। इससे आगे जब सम्पूर्ण रूप से चारित्र अथवा त्याग की कला विकसित होने लगती है, तब सर्वविरति नाम की चौथी और अन्तिम भूमिका आती है। इन चार भूमिकाओ मे साधक क्या करे, क्या सोचे और आगे प्रगति करने के लिए क्या प्रयत्न करे—यह योगशतक मे प्रतिपादित है। एक तरह से जैन परिभाषा मे जैन-परम्परा मे चला आनेवाला यह वर्णन है, जैसा कि इतर परम्पराओ के योग-ग्रन्थों मे उस-उस परम्परा की परिभाषा मे चला आने वाला वर्णन मिलता है। अतः योगविंशिका एवं योगशतक इन दो ग्रन्थो के बारे मे इतना कहा जा सकता है कि इनकी रचना जैन-परम्परा के ढाचे पर हुई है, परन्तु हरिभद्र की जो असली सूझ है वह इन साम्प्रदायिक समझे जा सके ऐसे ग्रन्थो मे भी आये बिना नही रही। इनमे से दो-तीन बातो का निर्देश यहा पर्याप्त समझा जायगा।

हरिभद्र कहते है कि जिसने अभी धर्म की सच्ची भूमिका का स्पर्श नही किया और जो केवल उस ओर अभिमुख है, वैसे प्रथम अधिकारी को लोक और समाज के बीच रहकर आचरण करने योग्य धर्म का उपदेश देना चाहिए, जिससे वह लौकिक

---

२५ 'मुत्तूण लोगसन्न'—योगविंशिका, १६

धर्म से वंचित न हो। ऐसा कहकर वह गुरु, देव, अतिथि आदि के पूजा-सत्कार का तथा दीनजनो को दान देने का विवान करते हैं।[२६] निवृत्ति की दिशा में विशेष रूप से उन्मुख समाज में बहुत वार ऐसे आवश्यक धर्म की उपेक्षा होने लगती है। हरिभद्र ने शायद यह वस्तु तत्कालीन जैन समाज मे देखी और उन्हे लगा कि आध्यात्मिक माने जानेवाले निवृत्तिपरायण लोकोत्तर धर्म के नाम पर लौकिक धर्मों का उच्छेद कभी वांछनीय नही है। इसीलिए उन्होने समाज के धारक एवं पोषक सभी धर्मों का आचरण आवश्यक माना। वे जब गुरु, देव और अतिथि के आदर-सत्कार की वात कहते हैं, तब केवल जैन गुरु, जैन देव या जैन अतिथि की वात नही कहते। वे तो गुरु की वात विद्या, कला आदि विषयों को सिखाने वाले सभी गुरुवर्ग और माता-पिता तथा अन्य आप्तजनो को उद्दिष्ट करके कहते हैं। इसी प्रकार देव की वात समाज में भिन्न-भिन्न वर्गों द्वारा पूजित सभी देवो को लक्ष्य मे रखकर करते हैं, तथा अतिथि-वर्ग में वे सभी अतिथियो का समावेश करते हैं। वैयक्तिक एवं सामाजिक जीवन में लौकिक धर्म सद्गुणपोषक और सद्गुणसंवर्धक वनते हैं। धीरे धीरे इन सद्गुणो के विकास के द्वारा लोकोत्तर धर्म अर्थात् आध्यात्मिकता के सच्चे विकास मे प्रवेश हो सकता है—यह वात उन्होने एक सरल दृष्टान्त द्वारा समझाई है। वे कहते हैं कि अरण्य में भूला पड़ा हुआ यात्री पगडण्डी मिलने से धीरे धीरे जैसे मुख्य मार्ग पर आ पहुँचता है, वैसे योग का प्रथम अधिकारी भी लोकधर्म का यथावत् पालन करते करते सुसंस्कार और विवेक की अभिवृद्धि से योग के मुख्य मार्ग मे प्रवेश करता है।[२७] हरिभद्र से पहले ऐसा स्पष्ट विधान किसी जैनाचार्य ने शायद ही किया होगा।

जैन-परम्परा अहिंसाप्रधान होने से उसका धार्मिक आचार अहिंसा की नीव पर रचा गया है, परन्तु हिंसाविरमण आदि पद अधिकांगत. निवृत्तिसूचक होने से उनका भावात्मक पहलू उपेक्षित रहा है। हरिभद्र ने देखा कि हिंसानिवृत्ति, असत्य-निवृत्ति आदि अणुव्रत या महाव्रत केवल निवृत्ति में ही पूर्ण नही होते, परन्तु उनका एक प्रवर्तक पहलू भी है। इससे उन्होंने जैन-परम्परा में प्रचलित अहिंसा, अपरिग्रह जैसे व्रतो की भावना को पूर्ण रूप से व्यक्त करने के लिए मैत्री, करुणा आदि चार

२६. पढमस्स लोगधम्मे परपीडावज्जणाइ ओहेण।
गुरुदेवातिहिपूयाइ दीणदाणाइ अहिगिच्च॥
—योगशतक, २५

२७ एवं चिय अवयारो जायइ मग्गम्मि हंदि एयस्स।
रण्णे पहपब्भट्ठो वट्टाए वट्टमोयरइ॥
—योगशतक, २६

भावनाओं के ऊपर भी भार दिया। अलबत्ता, ये भावनाएँ योगसूत्र[२८] और तत्त्वार्थाधिगमसूत्र मे[२९] तो है ही, परन्तु इन भावनाओं के विकास का मुख्य श्रेय महायानी परम्परा को है। जिस प्रकार हरिभद्र अपने दूसरे अनेक ग्रन्थों मे महायानी आदि इतर परम्पराओ के द्वारा पोषित धर्म के प्रवर्तक सदंशों को स्वीकार करते हैं और उनमे से एक उत्तम रसायन तैयार करते है, वैसे ही उन्होने योगशतक मे भी उक्त मैत्री आदि चार भावनाओं को गूंथकर[३०] निवृत्ति एवं प्रवृत्ति धर्म का परस्पर उपकार करनेवाला आध्यात्मिक रसायन तैयार किया हो, ऐसा प्रतीत होता है।

हरिभद्र की तुलना-दृष्टि योगशतक मे भी देखी जाती है। उन्होने योग का लक्षण या स्वरूप तीन दृष्टियो से उपस्थित करके तुलना का द्वार खोल दिया है। योग श्रेय की सिद्धि का दीर्घतम धर्मव्यापार है। इसमे दो अंश है: एक निषेधरूप और दूसरा विधिरूप। क्लेशो का निवारण करना यह निषेधाश, इससे प्रकट होनेवाली शुद्धि के कारण चित्त की कुशलमार्ग मे ही प्रवृत्ति यह विधि-अंश। इन दोनों पहलुओं को अपने मे समेटने वाला धर्मव्यापार ही वस्तुत' पूर्ण योग है। परन्तु इस योग का स्वरूप पतंजलि ने 'चित्तवृत्तिनिरोध'[३१] शब्द से मुख्यतया अभावात्मक सूचित किया है, जबकि बौद्ध-परम्परा ने 'कुशलचित्त की एकाग्रता या उपसम्पदा'[३२] जैसे शब्दों के द्वारा प्रधान रूप से भावात्मक सूचित किया है। ऊपर-ऊपर से देखनेवाले को ये लक्षण कुछ विरोधी से प्रतीत हो सकते है, परन्तु वस्तुतः इनमे कोई भी विरोध नही है। एक ही वस्तु के दो पहलुओं को गौण-मुख्यभाव से बतलाने के ये दो प्रयत्न है—मानो यह भाव सूचित करने के लिए ही हरिभद्र ने पातंजल और बौद्ध-परम्परा द्वारा मान्य दोनो लक्षणो का तुलना की दृष्टि से निर्देश किया है और अन्त मे जैनसम्मत लक्षण मे उपर्युक्त दोनो लक्षणों का दृष्टिभेद से समावेश सूचित किया है। यह

---

२८. योगसूत्र १.३३

२९. तत्त्वार्थसूत्र ७.६

३०. अहवा ओहेण चिय भणियविहाणाओ चेव भावेज्जा।
सत्ताइएसु मित्ताइए गुणे परमसविग्गो॥
सत्तेसु ताव मेत्ति तहा पमोय गुणाहिएसु ति।
करुणामज्भत्थत्ते किलिस्समाणाविणीएसु॥
—योगशतक, ७८-९

३१ योगश्चित्तवृत्तिनिरोध। —योगसूत्र १ २

३२. सव्वपापस्स अकरण कुसलस्स उपसपदा।
सचित्तपरियोदपन एत बुद्धान सासन॥
—धम्मपद, १४५

लक्षण उन्होंने अपने सभी ग्रन्थो मे दिया है। उनका अभिप्रेत लक्षण ऐसा है : जो धर्मव्यापार मोक्षतत्त्व के साथ सम्बन्ध जोडे वह योग।[३३] उनका यह लक्षण सर्वग्राही होने से उसमे निषेधात्मक और विधेयात्मक दोनो स्वरूप समा जाते है।

योगविंशिका

वसुबन्धु ने विज्ञानवाद का निरूपण करने के लिए विंशिका और त्रिंशिका जैसे ग्रन्थ लिखे है। जिसका परिमाण बीस पद्यका हो वह विंशिका। हरिभद्र ने ऐसी रचनाओ का अनुकरण करके विंशिकाएँ लिखी है। उन्होने वैसी बीस विंशिकाएँ रची है और वे सब प्राकृत मे है। इन विंशिकाओ का संस्कृत छाया तथा अंग्रेजी सार के साथ सम्पादन प्रो० अभ्यंकर ने किया है। ये विंशिकाएँ कॉलेज के पाठ्यक्रम मे भी थी। इन बीस विंशिकाओ मे से योगविंशिका सत्रहवी है। इन सब विंशिकाओं के ऊपर किसी विद्वान् ने टीका लिखी थी या नही यह अज्ञात है, परन्तु मात्र योग-विंशिका के ऊपर संस्कृत टीका मिलती है, जिसके रचयिता उपाध्याय श्री यशोविजयजी है। उन्होने अपनी एक गुजराती कृति मे 'जोजो जोगनी वीशी रे'[३४] कहकर उसका सादर उल्लेख किया है। उन्होने योगविंशिका के ऊपर जो संस्कृत टीका लिखी है वह उसके मूल हार्द को अत्यन्त स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त करती है और प्रासंगिक चर्चा मे

---

३३ मुक्खेण जोयणाओ, जोगो सव्वो वि धम्मवावारो।
परिसुद्धो विन्नेओ, ठाणाइगओ विसेसेण॥
—योगविंशिका, १

अतस्त्वयोगो योगानां योग. पर उदाहृत।
मोक्षयोजनभावेन सर्वसन्यासलक्षण॥
—योगदृष्टिसमुच्चय, ११

निच्छयओ इह जोगो सन्नाणाईण तिण्ह सवधो।
मोक्खेण जोयणाओ निद्दिट्ठो जोगिनाहेहिं॥
ववहारओ य एसो विन्नेओ एयकारणाण पि।
जो सम्बन्धो सो वि य कारणकज्जोवयाराओ॥
—योगशतक २ और ४

अध्यात्म भावना ध्यान समता वृत्तिसक्षय।
मोक्षेण योजनाद् योग एप श्रेष्ठो यथोत्तरम्॥
—योगविन्दु, ३१

पाचरात्रो के 'परमसहिता'-नामक ग्रन्थ मे भी 'योग' का अर्थ 'जोडना' किया है। देखो दासगुप्ता हिस्ट्री ऑफ् इण्डियन फिलोसॉफी, भाग ३, पृ० २२।

जैन आगम मे समाधि के अर्थ मे भी योग शब्द का प्रयोग हुआ है, जैसे कि— 'वसे गुरुकुले निच्च जोगव उवहाणाव'—उत्तराध्ययनसूत्र ११ १४।

३४ देखो 'साडा त्रण सो गाथानु श्री सीमन्धर जिन स्तवन' ढाल १, कडी ५।

उपाध्यायजी अपनी तर्कशैलीका भी योग्य उपयोग करते है। समग्रतया यह टीका उक्त विंशिका के[३५] अनुशीलन के लिए बहुत उपयोगी है।

योगशतक जिनभद्र के ध्यानशतक तथा पूज्यपाद के समाधिशतक जैसी शत-पद्यपरिमाण रचनाओ का अनुकरण है। इसमे आये हुए १०१ पद्य आर्या छन्द मे हैं। १९२२ ई० मे मैंने जब इसका उल्लेख किया था उस समय वह उपलब्ध नही था। कुछ वर्ष पूर्व उसकी एक ताड़पत्रीय प्रति संशोधक विद्वान् मुनि श्री पुण्यविजयजी को मिली। उसके आधार पर उस ग्रन्थ का सम्पादन डॉ. इन्दुकला झवेरी ने किया है और वह गुजरात विद्यासभा ने १९५६ ई० मे प्रकाशित किया है।[३६] मूल का अर्थ, तुलनात्मक विवेचन, महत्त्व के मुद्दो पर अनेक परिशिष्ट तथा विस्तृत प्रस्तावना के कारण यह सस्करण ग्रन्थ के हार्द को समझाने के साथ योगतत्त्व और योग-साहित्य के विषय मे बहुत सी जानकारी प्रस्तुत करता है।

जब गुजराती विवेचन किया गया और प्रस्तुत व्याख्यान लिखे गये तब योग-शतक की टीका का कोई पता न था, पर अभी हाल ही मे उसकी संस्कृत टीका उपलब्ध हुई है, जो स्वोपज्ञ है। वह है तो संक्षिप्त, किन्तु स्वोपज्ञ होने से बहुत महत्त्व की है। इसकी एकमात्र ताडपत्रीय प्रति माडवी (कच्छ) के खरतरगच्छीय ज्ञानभण्डार से प्राप्त हुई है। उसका लेखन-समय वि. सं. ११६५ है। उसका पोथी न० ३८ और प्रति नं० १३४ है। अभी वह टीका अमुद्रित है, परन्तु उसकी फोटोस्टेट कॉपी श्री लालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृति विद्यामन्दिर, अहमदाबाद मे है। इसकी प्राप्ति का श्रेय मुख्यतया मुनि श्री पुण्यविजयजी को है।

---

३५. सटीक 'योगविंशिका' का हिन्दी सार मैने अनेक वर्ष पहले लिखा था। वह 'पातजल योगदर्शन तथा हारिभद्री योगविंशिका' नामक पुस्तक मे ई स १९२२ मे प्रकाशित हुआ है। उसमे 'योगविंशिका के अतिरिक्त पातजल योगसूत्रो की उपाध्याय यशोविजयजी की सस्कृत वृत्ति भी हिन्दी सार के साथ छपी है। इसके अतिरिक्त इसका गुजराती विवेचन आचार्य ऋद्धिसागरजी ने किया है और वह 'योगानुभव सुखसागर तथा श्री हरिभद्रकृत योग-विंशिका' नाम की पुस्तक मे छपा है। यह पुस्तक श्रीमद् बुद्धिसागरसूरि जैन ज्ञानमन्दिर, बीजापुर (उत्तर गुजरात) ने प्रकाशित की है।

३६ इसका हिन्दी अनुवाद भी गुजरात विद्यासभा ने प्रकाशित किया है।

व्याख्यान पाँचवाँ

योग-परम्परा में आ० हरिभद्र की विशेषता–२

आचार्य हरिभद्र ने योग-परम्परा मे कौन-कौनसा और कैसा-कैसा वैशिष्ट्य लाने का प्रयत्न किया है इसके बारे मे चौथे व्याख्यान में उनके दो प्राकृत ग्रन्थो को लेकर संक्षेप मे संकेत किया गया है, परन्तु योगपरम्परा मे उनका असाधारण वैशिष्ट्यपूर्ण अर्पण तो उनके उपलब्ध दो संस्कृत ग्रन्थो के द्वारा ही जाना जा सकता है। वे दो ग्रन्थ हैं : योगबिन्दु और योगदृष्टिसमुच्चय। इन दो ग्रन्थो मे उन्होने योग-तत्त्व का ही सागोपांग निरूपण किया है। उन्होने इन संस्कृत ग्रन्थो के अतिरिक्त भी दूसरे 'षोडशक' आदि अनेक प्रकरण-ग्रन्थों मे योगतत्त्व की थोड़ी-बहुत चर्चा तो की ही है, परन्तु प्रस्तुत दो ग्रन्थ उनकी योगचर्चा-विषयक छोटी-बड़ी सभी कृतियो से सर्वथा अलग से पडते हैं; इतना ही नही, उनके समय तक भिन्न-भिन्न धर्म-परम्पराओ ने योग-विषयक जो साहित्य रचा है और जो उपलब्ध हैं तथा जो मेरे देखने मे आया है, उस समग्र साहित्य की दृष्टि से भी हरिभद्र की प्रस्तुत दो कृतियो का खास निराला स्थान है। जैन और जैनेतर सभी ज्ञात परम्पराओ की योग-विषयक कृतियो मे हरिभद्र की प्रस्तुत कृतियो का स्थान कुछ अनोखा है—ऐसा जब कहना हो तब उसके समर्थक थोड़े भी सबल आधारो का निरूपण करना ही चाहिए। इस विचार से इस अन्तिम और पंचम व्याख्यान मे वैसे आधारो की चर्चा करने का सोचा है।

प्राचीन जैन आगमो मे प्रतिपादित योग एव ध्यान विषयक समग्र विचार-सरणी से तो हरिभद्र सुपरिचित थे ही; साथ ही वे सांख्य-योग, शैव-पाशुपत और बौद्ध आदि परम्पराओ के योग-विषयक प्रस्थानो से भी विशेष परिचित और जानकार थे। इससे उनके समय तक मे शायद ही दूसरे किसी को सूझा हो वैसा एक विचार उन्हे आया हो ऐसा मालूम होता है। वह विचार है : भिन्न भिन्न परम्पराओं मे योग-तत्त्व के विषय में मात्र मौलिक समानता ही नही, किन्तु एकता भी है, ऐसा होने पर भी उन परम्पराओ में परस्पर जो अन्तर माना या समझा जाता है उसका निवारण करना। हरिभद्र ने देखा कि सच्चा साधक चाहे जिस परम्परा का हो, उसका आध्यात्मिक विकास तो एक ही क्रम से होता है, उसके तारतम्ययुक्त सोपान अनेक

सम्भव है, परन्तु विकास की दिशा तो एक ही होती है। अतएव भले ही उसका निरूपण भिन्न-भिन्न परिभाषाओं में हो और उसकी शैली भी भले ही भिन्न हो, परन्तु उस निरूपण का आत्मा तो एक ही होगा। उनकी यह दृष्टि अनेक योग-परम्पराओं के प्रतिष्ठित ग्रन्थों के पूर्ण और यथार्थ अवगाहन के फलस्वरूप बनी मालूम होती है। इसीलिए उन्होने निश्चय किया कि मैं ऐसे ग्रन्थ लिखूँ जो सुलभ सभी योगशास्त्रों के दोहनरूप हों और जिनमे किसी एक ही सम्प्रदाय मे रूढ़ परिभाषा या शैली का आश्रय न लेकर नयी परिभाषा और नयी शैली की इस प्रकार आयोजना की जाय जिससे कि अभ्यस्त सभी योग परम्पराओ के योग-विषयक मन्तव्य किस तरह एक है अथवा एक-दूसरे के अतिनिकट है यह बतलाया जा सके और विभिन्न सम्प्रदायो मे योगतत्त्व के बारे मे जो पारस्परिक अज्ञान प्रवर्तमान हो उसे यथासम्भव दूर किया जा सके। ऐसे उदात्त ध्येय से उन्होने प्रस्तुत दो ग्रन्थो की रचना की है।

हम उन्ही के उद्गारों में उनके इस उदात्त ध्येय को सुने—

अनेकयोगशास्त्रेभ्यः संक्षेपेण समुद्धृत ।
दृष्टिभेदेन योगोऽयमात्मानुस्मृतये पर ॥ २०५ ॥—योगदृष्टिसमुच्चय

सर्वेषां योगशास्त्राणामविरोधेन तत्त्वतः ।
सन्नीत्या स्थापकं चैव मध्यस्थांस्तद्विद· प्रति ॥ २ ॥—योगबिन्दु

इस दूसरे श्लोक मे मध्यस्थ योगज्ञ को उद्दिष्ट करके कहा है कि योगबिन्दु सभी योगशास्त्रों का अविरोधी अथवा विसंवादरहित स्थापन करनेवाला एक प्रकरण है। इस कथन मे तीन बाते मुख्य हैं: (१) मध्यस्थ और वह भी योगज्ञ। (२) सभी योग-शास्त्रो का तात्त्विक दृष्टि मे अविरोध। इस कथन मे सम्भावित सभी योगशास्त्रो के हरिभद्र द्वारा अवगाहन किये जाने की सूचना है। ऐसा अवगाहन दूसरे किसी ने किया हो तो उसका ऐसा स्पष्ट प्रमाण उपलब्ध नही होता। यद्यपि सभी अच्छे शास्त्रों में समान विषयवाले ग्रन्थों का अवगाहन होता ही है, तथापि पातजल अथवा बौद्ध आदि कोई ऐसा योगशास्त्र नही है जिसमे लभ्य सर्व योगशास्त्रों का दोहन करके उनमे तात्त्विक रूप से अविरोध बतलाया गया हो अर्थात् तुलना की गई हो। (३) 'तत्त्वत·' और 'अविरोध' ये दो पद अर्थवाही हैं। शाब्दिक अथवा स्थूल विरोध महत्त्व का नही है, जो विरोध मूलगामी हो वही विरोध कहा जा सकता है। हरिभद्र कहते हैं कि योगशास्त्रो मे जो मूलगामी अविरोधी वस्तु है उसका यहाँ स्थापन किया गया है और वह भी योगज्ञ मध्यस्थो को लक्ष्य मे रखकर; दूसरे के लिए ऐसा स्थापन कार्य-

साधक नही होता। उनका 'पक्षपातो न मे वीरे'[1] यह उद्गार स्वाभाविक है, जो यहाँ भी 'मध्यस्थ' पद से सूचित होता है।

योगदृष्टिसमुच्चय और योगबिन्दु

योगदृष्टिसमुच्चय मे २२८ पद्य है, जबकि योगबिन्दु में ५२७ पद्य हैं। ये सभी पद्य अनुष्टुप् छन्द मे है। योगदृष्टिसमुच्चय की व्याख्या संक्षिप्त है, परन्तु वह स्वोपज्ञ है; जबकि योगबिन्दु की व्याख्या स्वोपज्ञ होगी तो भी वह ज्ञात नही है और जो व्याख्या उपलब्ध है वह अन्यकर्तृक है। यद्यपि उसके कर्ता का नाम अज्ञात है, लेकिन समुच्चय रूप से देखने पर वह व्याख्या बहुत स्पष्ट है। अलबत्ता, उसमे मूल ग्रन्थ का आशय समझाने का ठीक ठीक प्रयत्न देखा जाता है, फिर भी उसमे कही कही सम्प्रदाय की छाप दिखाई पडती है।

आत्मा, चेतन, जीव या चित्त तत्त्व का चेतना के रूप मे स्वतंत्र अस्तित्व, उसकी साहजिक शुद्धि और फिर भी क्लेश एवं अज्ञान की वृत्तियों से शुद्धि का आवरण, इस आवरण के क्रमिक ह्रास द्वारा अन्त मे पूर्ण क्षय की शक्यता तथा उसी ह्रास-क्रम मे शुद्धि का विकासक्रम, आवरणो के निवर्तक एवं विकासक्रम के साधक अनेक उपायो का जीवन मे अनुभव तथा उसकी कार्यक्षमता—ये योगतत्त्व अथवा अध्यात्म-साधना के मूलभूत सिद्धान्त है। इन सिद्धान्तों के बारे मे किसी भी योग-परम्परा की विप्रतिपत्ति या मत-विरोध नही है, फिर भले ही उनके ब्योरे मे कही मतभेद देखा जाता हो। इसीलिए हरिभद्र ने इन मौलिक तत्त्वो को केन्द्र मे रखकर उनकी अपनी कही जा सके ऐसी परिभाषा की योजना की है और इसीके फलस्वरूप उनकी निरूपण-शैली भी उन्ही की अपनी बन पडी है। विशेषता तो यह है कि दोनो ग्रन्थो मे भी उन्होने एक ही परिभाषा नही अपनाई। ऐसा लगता है कि उनके मन मे योगतत्त्व का एक ऐसा अनुभव-रसायन तैयार हुआ था, जो भिन्न-भिन्न ग्रन्थो मे भिन्न-भिन्न प्रकार मे व्यक्त हुए बिना रह ही नही सकता था।

---

१ पक्षपातो न वीरे न द्वेष कपिलादिषु।
युक्तिमद्वचन यस्य तस्य कार्यः परिग्रह ॥ ३८ ॥ —लोकतत्त्वनिर्णय

इसके साथ तुलना करो—
अपि पौरुषमादेय शास्त्रं चेद्युक्तिबोधकम्।
अन्यत्त्वार्षमपि त्याज्य भाव्यं न्याय्यैकसेविना ॥ २ ॥
युक्तियुक्तमुपादेय वचन बालकादपि।
अन्यत्तृणमिव त्याज्यमप्युक्त पद्मजन्मना ॥ ३ ॥
—योगवासिष्ठ, प्रकरण २, अध्याय १८

योगदृष्टिसमुच्चय मे योग–विकास के क्रम से सम्बन्ध रखनेवाली पहली परिभाषा तीन विभागों मे दी गई है : (१) इच्छायोग (२) शास्त्रयोग और (३) सामर्थ्य-योग[२]। इसके पश्चात् आगे जाकर इस योगतत्त्व का निरूपण आठ दृष्टियों अथवा बोध के आठ प्रकार के[३] तारतम्ययुक्त चढा-उतरी के क्रम मे किया गया है, जब कि योगविन्दु में योगतत्त्व को पांच भागो मे[४] विभक्त करके उसका सम्पूर्ण चित्र उपस्थित किया गया है। दोनो ग्रन्थो की परिभाषा को समझाते समय उस-उस योग-भूमिका से सम्वद्ध आवश्यक सभी बातें उन्होंने दी है। इन बातों का निर्देश करते समय उन्होने खास ध्यान यह रखा है कि उस मुद्दे के विषय मे भिन्न-भिन्न योग-परम्परा के आचार्य किस तरह एकमत है और वे सब शब्दभेद से किस तरह एक ही वस्तु कहते है। सांख्य-योग, शैव-पाशुपत, बौद्ध और जैन– इतनी परम्पराओं के योगाचार्य और उनके अनेक ग्रन्थ हरिभद्र की दृष्टि के समक्ष थे ही। हरिभद्र प्रसिद्ध योगसूत्रकार पतंजलि को भगवान् पतंजलि कहते हैं, जो कि एक साख्य योगाचार्य हैं। वे भास्करबन्धु का भदन्त के नाम से निर्देश करते है, जिससे ज्ञात होता है कि वे बौद्धाचार्य होगे। भगवद्दत्त के नाम से निर्दिष्ट आचार्य सम्भवतः शैव या पाशुपत होने चाहिए[५]। वे गोपेन्द्र के वचन का वहुमानपूर्वक उल्लेख करते है और उस स्थान पर कहते है कि मै जो वस्तु

---

२. कर्तुमिच्छोः श्रुतार्थस्य ज्ञानिनोऽपि प्रमादतः।
विकलो धर्मयोगो य. स इच्छायोग उच्यते ॥
शास्त्रयोगस्त्विह ज्ञेयो यथाशक्त्यप्रमादिन ।
श्राद्धस्य तीव्रवोधेन वचसाऽविकलस्तथा ॥
शास्त्रसन्दर्शितोपायस्तदतिक्रान्तगोचरः ।
शक्त्युद्रेकाद्विशेपेण सामर्थ्याख्योऽयमुत्तम ॥
—योगदृष्टिसमुच्चय, ३–५

३. मित्रा तारा वला दीप्रा स्थिरा कान्ता प्रभा परा।
नामानि योगदृष्टीना लक्षण च निबोधत ॥
—योगदृष्टिसमुच्चय, १३

४. अध्यात्म भावना ध्यान समता वृत्तिसक्षय ।
मोक्षेण योजनाद् योग एप श्रेष्ठो यथोत्तरम् ॥
—योगविन्दु, ३१

५. सता मुनीना भगवत्पतजलिभदन्तभास्करवन्धुभगवद्दत्तादीना योगिनामित्यर्थ ।
—योगदृष्टिसमुच्चयटीका, १६

कहना चाहता हूँ वही वस्तु गोपेन्द्र भी कहते हैं[६]। गोपेन्द्र के कथन के उद्धरण पर से यह तो निश्चित है कि वे एक साख्य-योगाचार्य है। हरिभद्र के ग्रन्थ के अतिरिक्त दूसरे किसी आधार से इन साख्याचार्य का नाम अथवा अवतरण आज तक ज्ञात नही है। कालातीत[७] नामक एक अन्य योगाचार्य का भी उन्होने निर्देश किया है और उनका वचन उद्धृत करके अपने विचार के साथ उसकी तुलना भी की है। कालातीत किस परम्परा के होगे यह निश्चित रूप से नही कहा जा सकता, परन्तु 'अतीत' शब्द का सम्बन्ध देखने से शायद वे शैव, पाशुपत अथवा अवधूत जैसी किसी परम्परा के होगे, ऐसी कल्पना होती है। उन्होने एक स्थान पर 'समाधिराज[८] पद का उल्लेख किया है। 'समाधि' के साथ 'राज' पद को देखकर उसके अज्ञात टीकाकार को ऐसा भासित हुआ कि 'समाधिराज' अर्थात् सब समाधियो मे अन्तिम और मुकुट के जैसी प्रधान समाधि[९]। परन्तु उपलब्ध योग-साहित्य के स्वल्प परिचय से मुझे ऐसा ज्ञात होता है कि हरिभद्र द्वारा प्रयुक्त 'समाधिराज' पद एक ग्रन्थविशेष का बोधक है। वह ग्रन्थ 'समाधिराज' के नाम से प्रसिद्ध है तथा अतिप्राचीन है। इस ग्रन्थ का तथा इसकी प्राप्ति का इतिहास अत्यन्त रोमाचक है। यह ग्रन्थ कनिष्क के समय जितना तो प्राचीन है ही। चीनी भाषा मे भिन्न-भिन्न समय मे इसके तीन अनुवाद हुए हैं और वे मिलते भी है। इसका चौथा अनुवाद भोट-भाषा मे हुआ है। मूल ग्रन्थ परिमाण में छोटा था, परन्तु धीरे-धीरे वह बढता गया है। भोट-भाषा मे जो अनुवाद है वह तो मूल

---

६ तथा चान्यैरपि ह्येतद्योगमार्गकृतश्रमैः।
सगीतमुक्तिभेदेन यद् गोपेन्द्रमिद वच ॥
अनिवृत्ताधिकारायां प्रकृतौ सर्वथैव हि।
न पुसस्तत्त्वमार्गेऽस्मिञ्जिज्ञासाऽपि प्रवर्तते ॥
—योगबिन्दु, १००-१

७ माध्यस्थ्यमवलम्ब्यैवमैदम्पर्यव्यपेक्षया।
तत्त्व निरूपणीय स्यात् कालातीतोऽप्यदोऽब्रवीत् ॥
—योगबिन्दु, ३००

८ समाधिराज इत्येतत् तदेतत्तत्त्वदर्शनम्।
आग्रहच्छेदकार्येतत् तदेतदमृतं परम् ॥—योगबिन्दु ४५९

९ 'समाधिराज प्रधान समाधि.'—योगबिन्दुटीका, ४५९

योगबिन्दु (श्लोक ४५८) मे नैरात्म्यदर्शन मे मुक्ति माननेवाले किसी अन्य की चर्चा के प्रसग मे 'समाधिराज' (श्लोक ४५९) का उल्लेख आता है, अत वहाँ 'समाधिराज' ग्रन्थ ही हरिभद्र को विवक्षित है। 'समाधिराज' मे नैरात्म्यदर्शनकी चर्चा है। देखो 'समाधिराज' परिवर्त ७, श्लोक २८-२९।

ग्रन्थ के अन्तिम परिवर्धित संस्करण का अनुवाद है। यह अन्तिम परिवर्धित 'समाधिराज' नेपाल मे मूल रूप मे ही मिलता है। इसकी भाषा संस्कृत है, परन्तु 'ललितविस्तर' और 'महावस्तु' आदि ग्रन्थो मे प्रयुक्त भाषा की तरह संस्कृत-प्राकृत मिश्र है। यह ग्रन्थ भारत मे तो उपलब्ध नही था, परन्तु गिलगिट के प्रदेश मे से एक चरवाहे के लडके को भेड-बकरी चराते समय वह, दूसरे कई ग्रन्थो के साथ, मिला था। इन ग्रन्थो का सम्पादन कलकत्ता विश्वविद्यालय के सुप्रसिद्ध विद्वान् डॉ. नलिनाक्षदत्त ने किया है और विस्तृत भूमिका भी अंग्रेजी मे दी है। चीन और तिब्बत मे इस ग्रन्थ का पहले ही से जाना, वहा उसकी प्रतिष्ठा जमना, काश्मीर के एक प्रदेश मे से उसकी प्राप्ति, कनिष्क के समय तक हुई तीन धर्मसंगीतियो का उसमे निर्देश, उसमे प्रयुक्त प्राकृतमिश्रित संस्कृत भाषा तथा उसमे लिया गया शून्यवाद का आश्रय— यह सब देखने पर ऐसा अनुमान होता है कि यह 'समाधिराज' काश्मीर के किसी प्रदेश मे नही तो फिर पश्चिमोत्तर भारत के किसी भाग मे रचा गया होगा।

समाधिराज की प्रतिष्ठा और प्रचार ऐसा होगा कि हरिभद्र के जैसे जैनाचार्य का ध्यान भी उसकी ओर आकर्षित हुआ। हरिभद्र जब सब योगशास्त्रो के आकलन की बात कहते हैं, तब उपर्युक्त कई योगाचार्यों के नाम तथा कई अज्ञात ग्रन्थो के निर्देश उनके इस कथन की यथार्थता सिद्ध करते हैं। एक हरिभद्र ही ऐसे है जिनके योग-विषयक इन दो ग्रन्थो मे, अन्य किसी के योग-ग्रन्थ मे उपलब्ध न हो वैसी, ऐतिहासिक एवं तुलनात्मक सामग्री मिलती है।

जीवन के दो प्रवाह: एक भोग और दूसरा योग। प्राणिमात्र मे जो बहिर्मुख इन्द्रियानुसरणवृत्ति है उसका अनुसरण करना अनुस्रोतोवृत्ति अथवा भोगप्रवाह है, जब कि वैसी वृत्ति से उल्टी दिशा मे अन्तर्मुख होकर प्रयत्न करना योग अथवा प्रतिस्रोतोवृत्ति है। इन दो प्रवाहो या वृत्तियो के बीच की सीमा ऐसी होती है जिसमें साधक क्षण मे भोगाभिमुख और क्षण मे योगाभिमुख भी बनता है। योगाभिमुखता सच्चे अर्थ मे सिद्ध करनी हो तो अनेक उपायो का अवलम्बन लेना पडता है। उनमे से एक उपाय है वैराग्य। सामान्यत. वैराग्य एक आवश्यक उपाय माना गया है, फिर भी उसकी समझ के बारे मे तारतम्य रहा ही है और उसके कारण वैराग्य को आचरण मे उतारने के अनेक मार्ग भी खोजे गये हैं। आँख, कान आदि इन्द्रियों को आकर्षित करने वाले स्त्री, पुत्र, धन आदि है, तो इन आकर्षक पदार्थो का परित्याग ही वैराग्य है— ऐसी समझ मे से घर-बार तथा धन-धान्य आदि के त्याग का मार्ग शुरू हुआ। ऐसे त्याग के लिए उन-उन आकर्षक पदार्थों मे अनेक दोषो की कल्पना की

गई और उस विषय का अकल्प्य और वहुत वार तो प्रतिक्रिया पैदा करे ऐसा विशाल साहित्य रचा गया। इस तरह का साहित्य सभी भारतीय त्याग-प्रधान परम्पराओ में है। इसके विरुद्ध वैराग्य के बारे मे एक दूसरा विचार ऐसा पैदा हुआ कि तथाकथित आकर्षक पदार्थो का परित्याग किया जाय अथवा उनमे फँसने वाली नेत्र आदि इन्द्रियो को रोका जाय, तो भी मन मे उन पदार्थों की स्मृति होने पर राग उत्पन्न होगा ही, और यदि राग हो तो प्रतिकूल पदार्थों मे द्वेष का आविर्भाव अनिवार्य है। अत· वाह्य पदार्थो के मात्र त्याग से वैराग्य सिद्ध नही हो सकता। इस विचार ने अनेक साधको को प्रेरित किया। उनमे से कतिपय साधको ने मनोजय करने के लिए मन को मारने का सावन ढूँढ निकाला। वह साधन यानी येन केन प्रकारेण मन को कुण्ठित अथवा निष्क्रिय बनाना। इसके लिए हठयोग मे कुछ प्रणालिकाएँ भी दाखिल हुई तथा अबूझ साधको ने भावावेश मे आकर मादक पेय एवं खाद्याखाद्य के विवेकशून्य उपयोग का भी आश्रय लिया। यह प्रथा भी चल पडी और इस समय भी सर्वथा बन्द हुई है ऐसा कह नही सकते, परन्तु विशेप विचारक साधको ने देखा और कहा कि मन को मारने का अर्थ उसे कुण्ठित या निष्क्रिय बनाना नही है, किन्तु उस मन को गतिशील रखकर उसमे राग, द्वेष एवं अज्ञान के जो मल और उनके जो स्तर जमे हो उन्हे दूर करना और उन मलों से आवृत चित्त की अथवा जीवन की विशुद्ध शक्तियो को उद्बुद्ध करके उन्हें ऊर्ध्वगामी मार्ग की ओर प्रेरित करना— यही सच्चा अर्थात् परवैराग्य है। हरिभद्र ऐसे परवैराग्य के पूर्ण समर्थक हैं, इसलिए उनके प्रस्तुत दो ग्रन्थो मे न तो आकर्षक स्त्री, पुत्र आदि का दोप-दर्शन देखा जाता है और न मन को निष्क्रिय करने का एक भी सूचन है। उन्होने तो परवैराग्य को ध्यान मे रखकर इन दोनो ग्रन्थो मे योगतत्त्व की अपनी रूपरेखा उपस्थित की है।

योगदृष्टिसमुच्चय मे उन्होने वैसी रूपरेखा का निर्देश दो तरह से किया है: पहली इच्छायोग, शास्त्रयोग एवं सामर्थ्ययोग के रूप मे[१०] तथा दूसरी मित्रा, तारा, वला, दीप्रा, स्थिरा, कान्ता, प्रभा और परा जैसी आठ दृष्टियो के रूप मे[११]। पहली रूपरेखा संक्षिप्त है। उसके द्वारा हरिभद्र कहते है कि योगतत्त्व की ओर अभिमुख होना– यह प्रथम सोपान यानी इच्छायोग है। आध्यात्मिक वृत्ति को जीवन मे उतारने के लिए अनुभवी योगियो के वचन का अथवा उनके साक्षात् उपदेश का सहारा लेना– यह द्वितीय सोपान यानी शास्त्रयोग है। अनुभवी के निर्देशन तथा अपने उत्साह

---

१०. 'योगदृष्टिसमुच्चय' ३–५।

११. वही, १३।

एवं पुरुषार्थ के द्वारा स्वाधीन सामर्थ्य आत्मसात् करना– यह तृतीय सोपान अर्थात् सामर्थ्ययोग है। इस तीसरे योग मे पहुँचनेवाला फिर शास्त्रयोग अथवा परावलम्बन की अपेक्षा नही रखता। इसका अर्थ यह नही है कि शास्त्रयोग उपयोगी नही है; इसका अर्थ इतना ही है कि वह सामर्थ्ययोग की भाति अतीन्द्रिय आध्यात्मिक वस्तुओं की प्रतीति पूर्णतया और विशेष रूपसे नही करा सकता, परन्तु वैसे सामर्थ्ययोग मे प्रवेश पाने की प्रारम्भिक तैयारी के समय उसका भी उसकी निश्चित मर्यादा मे अधिकारी-विशेष के लिए उपयोग है ही। श्री अरविन्द ने Synthesis of Yoga नामक अपनी पुस्तक के Four Aids नाम के प्रथम प्रकरण मे 'शब्दब्रह्माऽतिवर्तते' की जो बात कही है और जिसका महाभारत एवं उपनिषद् मे भी निर्देश है, वही बात हरिभद्र ने 'सामर्थ्ययोग' शब्द से सूचित की है।

यह हुई संक्षिप्त रूपरेखा। परन्तु हरिभद्र ने इस रूपरेखा का विशेष विस्तार आठ दृष्टि के निरूपण के द्वारा किया है। दृष्टि अर्थात् तत्त्वलक्षी बोध। ऐसा बोध एकाएक पूर्ण रूप से शायद ही किसी व्यक्ति मे प्रकट होता हो। पूर्ण कला पर पहुँचने से पूर्व उसे असंख्य भूमिकाओं मे से गुज़रना पडता है। इनमे से अन्तिम भूमिका का परादृष्टि के नाम से निर्देश करके और इसके पहले की असंख्य भूमिकाओं को सात भागो मे विभक्त करके उन्होने उनका सात दृष्टि के रूप मे वर्णन किया है। इन आठ दृष्टियों मे से भी पहली चार तो एक तरह से भोग और योग की सीमा जैसी हैं, जब कि अन्तिम चार योग की पक्की नीव जमने के बाद की हैं। पहली चार का निर्देश उन्होने 'अवेद्यसंवेद्य' पद से किया है, जब कि दूसरी चार का उल्लेख 'वेद्यसंवेद्य' पद से किया है।[१२] हरिभद्र कहते हैं कि योगतत्त्व के मूल सिद्धान्त रूप जो चेतन के स्वतंत्र अस्तित्व आदि तत्त्व हैं वे अतीन्द्रिय है। इनका अटल निश्चय मात्र शास्त्रश्रवण जैसे उपायो से भी सुसाध्य नही है। इसके लिए साधक को सत्समागम, शास्त्रश्रवण जैसे मार्गों के अतिरिक्त स्वयं ऊह या गहरा मनन करना आवश्यक है। जब तक उन अतीन्द्रिय तत्त्वो की पक्की प्रतीति न हो, तब तक साधक, योग की दिशा मे हो तो भी, वेद्यसंवेद्य पद को न जानने से अवेद्यसंवेद्य पद की भूमिका मे है, परन्तु जब उसे अपने स्वतंत्र चैतन्य आदि अतीन्द्रिय तत्त्वों की अक्षोभ्य प्रतीति होती है तब वह वेद्यसंवेद्य पद की भूमिका मे आता है। इस प्रकार उन्होने योग की पक्व भूमिका तथा उसके पहले की अपक्व अथवा अस्थिर भूमिका का निरूपण तो किया, परन्तु उनके समक्ष मूल प्रश्न तो यह है कि भोगाभिमुखता से पराङ्मुख होने की प्रारम्भिक स्थिति से लेकर

---

१२. 'योगदृष्टिसमुच्चय' श्लोक ७० की टीका।

उसके विकास की अगली सभी भूमिकाओं के तारतम्य का मूल कारण क्या है? इन कारणों का निरूपण ही योग-दृष्टियों के निरूपण का हार्द है।

शारीरिक एवं प्राणमय जीवन के अभ्यास के कारण चेतन अपने सहज समत्व-केन्द्र का परित्याग करता है और वह वैसे जीवनोपयोगी अन्य पदार्थों में अपने अस्तित्व का आरोपण करने लगता है। यह उसका स्वयं अपने बारे में मोह या अज्ञान है। यह अज्ञान ही उसे समत्व-केन्द्र में से च्युत करके इतर परिमित वस्तुओं में रस लेने वाला बना देता है। यह रस ही राग-द्वेष जैसे क्लेशों का प्रेरक तत्त्व है। इस तरह चेतन या चित्त का वृत्तिचक्र अज्ञान एवं क्लेशों के आवरण से इतना अधिक आवृत एवं अवरुद्ध हो जाता है कि उसके कारण जीवन प्रवाह-पतित ही बना रहता है। अनेक ज्ञात-अज्ञात बलों से जब इस अनुस्रोतोवृत्ति का भेदन होता है तब चेतन समत्व-केन्द्र की ओर अभिमुख होता है। जितने परिमाण में वह समत्व-केन्द्र की ओर प्रगति करता है उतने परिमाण में उसका क्लेशमल क्षीण होता जाता है, और जैसे-जैसे क्लेश-मल क्षीण होता जाता है वैसे-वैसे वह अज्ञान को भी दुर्बल बनाता जाता है। यह हुई प्रतिस्रोतोवृत्ति। अज्ञान, अविद्या अथवा मोह, जिसे ज्ञेयावरण भी कहते हैं, वस्तुतः चेतनगत समत्व-केन्द्र को ही आवृत करता है, जब कि उसमें से पैदा होने-वाला क्लेशचक्र बाह्य वस्तुओं में ही प्रवृत्त रहता है। अज्ञान एवं उससे पोषित क्लेश-चक्रका बढ़ता जानेवाला ह्रास—यही ऊपर सूचित भूमिकाओं के तारतम्य का कारण है। हरिभद्र इसी को जैन परिभाषा में योग्यताभेद अथवा क्षयोपशमविशेष कहते हैं। ऐसे योग्यताभेदको समझाने के लिए उन्होंने कई दृष्टान्त देकर यह बतलाया है कि एक ही दृश्यको एक ही द्रष्टा परिस्थितिवश, स्वातंत्र्य-पारतंत्र्यवश, उम्रकी भिन्नता के कारण अथवा इन्द्रियवैगुण्यकी वजह से किस प्रकार अनेकरूप देखता है। हरिभद्र की यह दृष्टान्त-योजना बाह्य इन्द्रिय के प्रदेश तक सीमित है, परन्तु उसके द्वारा उन्होंने आध्यात्मिक ज्ञान एवं अज्ञान का तारतम्य कैसे होता है यह सूचित किया है।

हरिभद्रके ये दृष्टान्त सब समझ सके ऐसे और रोचक भी हैं। कोई द्रष्टा[१३] समीपस्थ दृश्य पदार्थ को मेघाच्छन्न अथवा मेघशून्य रात्रि में देखे, बादल से घिरे हुए

---

१३ 'योगदृष्टिसमुच्चय' में—

समेघामेघरात्र्यादौ सग्रहाद्यर्भकादिवत्।
ओघदृष्टिरिह ज्ञेया मिथ्यादृष्टीतराश्रया ॥१४॥

इस प्रकार हरिभद्र ने दर्शनभेद समझाने के लिए आगम, भाष्य, चूर्णि आदि जैन-शास्त्रीय परम्परा में प्रसिद्ध मेघावृत और मेघानावृत चन्द्र-सूर्य के दृष्टान्तोंका विस्तार करके मित्रा आदि आठ दृष्टियों का निरूपण किया है। बौद्ध परम्परामें इसी तरह मेघावृत और

अथवा बादलरहित दिन के समय देखे, चित्तभ्रम की स्थिति मे अथवा उससे मुक्त दशा मे देखे, बाल्य अथवा वैसी अपक्व आयु मे या परिपक्वावस्था मे देखे, वही द्रष्टा पीलिया या वैसे किसी रोग से ग्रस्त नेत्रों से अथवा नीरोग नेत्रो से देखे, तो उस दृश्य के एवं द्रष्टा के एक होने पर भी उसके दर्शन मे अनेकविध तारतम्य होता है। इसी प्रकार जीव वही का वही होता है, और उसका जीवन या प्रवृत्तिक्षेत्र भी वही का वही होता है, फिर भी उस पर के ज्ञेयावरण एवं क्लेशावरण की तीव्रता-मन्दता के तारतम्य के कारण उसके आन्तरिक दर्शन मे तारतम्य आता है और वही तारतम्य, मत-भेद अथवा विचारभेद का बीज होने से अन्त मे दर्शनभेद मे परिणत होता है। हरिभद्र कहते हैं कि ऐसा दर्शनभेद अनिवार्य है। इस अनिवार्यता के होते हुए भी उसमे चार भूमिकाओ तक दृढ अभिनिवेश रहता है, जिसके फलस्वरूप विवाद एवं कुतर्क चला करते है; परन्तु पाँचवी भूमिका या स्थिरा दृष्टि से लेकर आगे की भूमिकाओं मे

मेघानावृत चंद्र-सूर्य के दृष्टान्त द्वारा क्लिष्ट-अक्लिष्ट प्रज्ञारूप आठ दृष्टियो का निरूपण आता है, जो वसुबन्धुके सभाष्य 'अभिधर्मकोष' तथा अज्ञातकर्तृक 'अभिधर्मदीप' एवं उसकी विभाषा-प्रभा नाम की वृत्ति मे है। यह तुलना आध्यात्मिक चिन्तन के पुरातन स्तर की सूचक है।

जैन एव बौद्ध ग्रन्थो के सूचक उद्धरण नीचे दिये जाते है—

अक्खरस्स अणतो भागो निच्चुग्घाडिओ, जइ पुण सो वि आवरिज्जा तेण जीवो अजीवत्तण पाविज्जा। सुट्ठु वि मेहसमुदए होइ पभा चदसूराण।

—नन्दीसूत्र सू ४३ (मलयगिरि-टीका वाली आवृत्ति, पृ १९५)।

सो पुण सव्वजहन्नो चेयण्ण नावरिज्जइ कयाइ।
उक्कोसावरणम्मि वि जलयच्छन्नक्कभासो व्व ॥४९८॥

—विशेषावश्यकभाष्य।

इनके अतिरिक्त देखो 'आवश्यकचूर्णि' पत्र ३० ब।

'अभिधर्मकोष' १ ४१ के भाष्य मे—

......समेघामेघरात्रिदिवरूपदर्शनवत् क्लिष्टाक्लिष्टलौकिकीशैक्ष्यशैक्षीभिर्दृष्टिभिर्धर्म-दर्शनम्।

'अभिधर्मदीप' १ ४३ एव उस की विभाषाप्रभा नामकी टीका मे—

समेघामेघराञ्यह्नोर्दृश्य चक्षुर्यथेक्षते।
क्लिष्टाक्लिष्टदृशौ तद्वच्छैक्षाशैक्षे च पश्यत ॥

यथा समेघाया तिमिरपटलावगुण्ठितचन्द्रनक्षत्रचक्रप्राया रजन्या रूपाणि दृश्यन्ते तथा क्लिष्टा पञ्चदृष्टयो ज्ञेय पश्यन्ति। यथा तु विगतरजासि निशाकरकिरणांशुकाव-गुण्ठिताया त्रियामाया रूपाणि दृश्यन्ते, तथा लौकिकी सम्यग्दृष्टि पश्यति। यथा तु मेघपट-लावगुण्ठिते दिवाकरकिरणानुद्भासिते दिवसे रूपाणि दृश्यन्ते, तद्वच्छैक्षी दृष्टि पश्यति। यथा तु द्रवकनकरसावसेकपिञ्जरदिनकरकिरणप्रोत्सारिततिमिरसचये दिवसे चक्षुष्मतो देवदत्तस्य रूप चक्षुरीक्षते, तथा बुद्धानामर्हता प्रज्ञाचक्षुरविद्याक्लेशोपक्लेशमलदूषिकातिमिर-पटलवर्जित ज्ञेय पश्यतीति।

अभिनिवेश नही रहता और दर्शनभेद के रहने पर भी भिन्न-भिन्न दर्शनो के विभिन्न आन्तरिक-बाह्य कारणो की समझ प्रकट होती है, जिससे उन सभी दर्शनों के प्रति यथार्थ सहानुभूति और समभाव पैदा होता है। इस तत्त्वका विशद निरूपण करने के लिए हरिभद्र ने योगदृष्टिसमुच्चय मे शास्त्रो एवं पंथों मे प्रचलित मतभेदों और व्याख्याभेदों का भूमिका के भेद के अनुसार विस्तार से समन्वय किया है। हम यहाँ उनमे से कुछ दृष्टान्त उद्धृत करेगे—

(१) हरिभद्र अपनी आठ दृष्टियों की पतंजलिवर्णित आठ योगाग के साथ तुलना करते है।[१४] इस तुलना मे उन्होने यम आदि, अखेद आदि[१५] और अद्वेष आदि[१६] तीन अष्टको का वर्णन किया है। इसी के साथ, पूर्वनिर्दिष्ट पतंजलि, भास्कर-बन्धु एवं दत्त जैसे योगाचार्यो के नाम दिये हैं।[१७] इस पर से ऐसा प्रतीत होता है कि इन तीन अष्टको का उक्त तीन आचार्यो के साथ क्रमश संबंध हो और उसी को उन्होने अपनी आठ दृष्टियो के साथ जोडा भी हो। यह चाहे जो हो, परन्तु इतना तो स्पष्ट है कि हरिभद्र की तुलनादृष्टि विशेष विस्तृत होती जाती है।

(२) गीता आदि अनेक ग्रन्थो मे 'संन्यास' पद बहुत प्रसिद्ध है। हरिभद्र के पहले किसी जैन आचार्य ने इसको स्वीकार किया हो ऐसा नही लगता। हरिभद्र इस 'संन्यास' शब्द को अपनाते हैं, इतना ही नही, धर्म-संन्यास, योग-संन्यास और सर्व-संन्यास के रूप मे त्रिविध संन्यास का निरूपण करके[१८] वे ऐसा सूचित करते हैं कि जैन परम्परा मे गुणस्थान के नाम से जिस विकासक्रम का वर्णन आता है वह इस त्रिविध संन्यास मे आ जाता है। आगे जाकर हरिभद्र ने असंगानुष्ठान का निरूपण किया है[१९] और वे कहते हैं कि ऐसा अनुष्ठान अनेक परम्पराओ मे भिन्न-भिन्न नाम

---

१४. 'योगदृष्टिसमुच्चय' श्लोक १६ से।

१५ खेदोद्वेगक्षेपोत्थानभ्रान्त्यन्यमुद्रुगासगं ।
युक्तानि हि चित्तानि प्रपचतो वर्जयेन्मतिमान् ।
—योगदृष्टिसमुच्चय श्लोक १६ की टीका मे उद्धृत श्लोक।

१६ अद्वेषो जिज्ञासा शुश्रूषा श्रवणबोधमीमासा।
परिशुद्धा प्रतिपत्ति प्रवृत्तिरष्टात्मिका तत्त्वे ॥
—योगदृष्टिसमुच्चय श्लोक १६ की टीका मे उद्धृत श्लोक।

१७ देखो पादटीप ५।

१८. 'योगदृष्टिसमुच्चय' ९–११ तथा 'योगवासिष्ठसार' (गुजराती) पृ० ३१७ एव ३२६।

१९ 'योगदृष्टिसमुच्चय' १७३।

से प्रसिद्ध है। वैसे नामो की गिनती करते हुए वे प्रशान्तवाहिता, विसभागपरिक्षय, शिववर्त्म और ध्रुवाध्वा जैसे नाम देते हैं।[२०] ये नाम अनुक्रम से पातंजल, बौद्ध, शैव एवं पाशुपत अथवा तांत्रिक जैसे दर्शनों मे प्रसिद्ध है।

(३) महाभारत, गीता और मनुस्मृति जैसे अनेक ग्रन्थों का परिशीलन योग-दृष्टिसमुच्चय मे देखा जाता है। इनमे से गीता के परिशीलन की गहरी छाप हरिभद्र के मन पर अंकित देखी जाती है। गीता मे संन्यास और त्याग के प्रश्न की चर्चा विस्तार से आती है। गीताकार ने मात्र कर्म के संन्यास को संन्यास न कहकर काम्य कर्म के त्याग को संन्यास कहा है,[२१] और नियत कर्म करने पर भी उसके फल के विषय मे अनासक्त रहने पर मुख्य भार देकर संन्यास का हार्द स्थापित किया है।[२२] हरिभद्र जैन-परम्परा के वातावरण में ही पनपे हैं। यह परम्परा निवृत्तिप्रधान तो है ही, परन्तु सम्प्रदाय के रूप मे व्यवस्थित होने पर उसका बाहरी ढाँचा पहले ही से ऐसा बनता रहा है कि जिसमे प्रवृत्तिमात्र के त्याग के संस्कार का पोषण अधिक मात्रा मे होता आ रहा था। हरिभद्र ने देखा कि वैयक्तिक अथवा सामाजिक जीवन को सुव्यवस्थित रखने के लिए अनेक प्रवृत्तियां अनिवार्य रूप से करनी पडती है। उनके सर्वथा त्याग पर अथवा उनकी उपेक्षा पर भार देने से सच्चा त्याग नहीं सधता, बल्कि कृत्रिमता आती है। योग अथवा धार्मिक जीवन मे कृत्रिमता को स्थान नही हो सकता। इससे उन्होने गीता मे निरूपित संन्यास के दो तत्त्वों का निर्देश योगदृष्टिसमुच्चय मे किया है। एक तो है काम्य तथा फलाभिसन्धि वाले कर्मो का ही त्याग और दूसरा है: नियत एवं अनिवार्य कर्मानुष्ठान मे भी असंगता अथवा अनासक्ति। इन दो तत्त्वो को स्वीकार कर उन्होने इतर निवृत्तिप्रधान परम्पराओं की भाति जैन-परम्परा को भी प्रवृत्ति के यथार्थ स्वरूप का बोध कराया है।

(४) हरिभद्र स्वभाव से ही माध्यस्थ्यलक्षी है, इससे वे मिथ्याभिनिवेश या कुतर्कवाद का कभी पुरस्कार नही करते। उन्होंने योगदृष्टिसमुच्चय मे कुतर्क, विवाद और मिथ्याभिनिवेश के ऊपर जो मार्मिक चर्चा की है[२३] वह, मै जानता हूं वहां तक, किसी भी भारतीय योग-ग्रन्थ मे उस रूप मे उपलब्ध नही होती। भारतीय योग-परम्पराएँ किसी-न-किसी तत्त्वज्ञान की परम्परा के साथ जुड़ी हुई हैं। तत्त्वज्ञान

---

२०. 'योगदृष्टिसमुच्चय' १७४।
२१ 'गीता' १८ २।
२२ 'गीता' १८.६-९।
२३. 'योगदृष्टिसमुच्चय' १०२-५०।

की परम्पराएँ अपनी सर्वोपरिता सिद्ध करने के लिए एक या दूसरे मुद्दे पर वहुत वार शुष्क वाद मे उतर जाती हैं। ऐसा एक सर्वज्ञविपयक शुष्क वाद चिरकाल से चला आता है। प्रत्येक परम्परा अपने मूल प्रवर्तक को सर्वज्ञ मानकर इतर परम्पराओ में कोई न-कोई क्षति वताती आई है। इसलिए प्रत्येक परम्परा के लिए सर्वज्ञत्व का प्रश्न मानो एक प्राण-प्रश्न वन गया है। सर्वज्ञ कौन, सर्वज्ञत्व का स्वरूप क्या इत्यादि मुद्दो के वारे मे चलनेवाली तत्त्वज्ञानीय चर्चा आध्यात्मिक साधना या योगमार्ग को भी कलुषित न करे अथवा वैसी चर्चा के कारण योग-साधक कुतर्क-जाल मे फँस न जाय ऐसे उदात्त ध्येय से हरिभद्र ने इस सव से अधिक नाजुक मुद्दे को लेकर कुतर्क मे न पडने की वात असाधारण प्रतिभा एवं निर्भयता से उपस्थित की है।

हरिभद्र कहते है कि सर्वज्ञत्व के विपय मे चर्चा करनेवाले हम तो हैं अर्वाग्दर्शी या चर्मचक्षु, तो फिर अतीन्द्रिय सर्वज्ञत्व का विशेप स्वरूप हम कैसे जान सकते हैं?[२४] अत उसका सामान्य स्वरूप ही जानकर हम योग मार्ग मे आगे वढ़ सकते हैं। यह है सामान्य स्वरूप अर्थात् निर्वाण-तत्त्व को जानना और मानना। ऐसे स्वरूप मे कोई नाम, व्यक्ति अथवा पंथ-भेद नही हो सकता। निर्वाण-तत्त्व का ज्ञान या आकलन[२५] ही सभी सर्वज्ञवादियो का अभिप्रेत सामान्य तत्त्व है—इतना माना तो सर्वज्ञत्व का स्वीकार हो ही गया, और यह न माना तो सर्वज्ञ शब्द की और सर्वज्ञ-विशेप की बड़ाई हाँकनेवाला कोई भी सर्वज्ञ को मानता है, ऐसा नही कहा जा सकता। ऐसा कह कर हरिभद्र ने पंथ-पंथ और परम्परा-परम्परा के बीच होने वाले सर्वज्ञ-विषयक विवाद

२४　तदभिप्रायमज्ञात्वा न ततोऽर्वाग्दृशा सताम्।
युज्यते तत्प्रतिक्षेपो महानर्थकर पर ॥
निशानाथप्रतिक्षेपो यथाऽन्धानामसगत ।
तद्भेदपरिकल्पश्च तथैवार्वाग्दृशामयम् ॥
—योगदृष्टिसमुच्चय, १३७–८.

२५　ससारातीततत्त्व तु पर निर्वाणसज्ञितम्।
तद्ध्येकमेव नियमाच्छब्दभेदेऽपि तत्त्वत ॥
सदाशिव. परं ब्रह्म सिद्धात्मा तथतेति च।
शब्दैस्तदुच्यतेऽन्वर्थादेकमेवैवमादिभि ॥
तल्लक्षणाविसवादान्निरावाधमनामयम्।
निष्क्रिय च पर तत्त्व यतो जन्माद्ययोगत ॥
ज्ञाते निर्वाणतत्त्वेऽस्मिन्नसमोहेन तत्त्वत ।
प्रेक्षावतां न तद्भक्तौ विवाद उपपद्यते ॥
—योगदृष्टिसमुच्चय, १२७–३०.

को दूर करने का सरल और बुद्धि-गम्य मार्ग बतलाया है। परन्तु ऐसा मार्ग सूचित करते समय उनके समक्ष कई प्रश्न तो उपस्थित होते ही है। यदि तुम कहते हो इस तरह सुगत, कपिल, अर्हन् आदि सभी निर्वाण तत्त्व के ज्ञाता होने से सर्वज्ञ हैं, तो उनमे पंथ एवं उपदेश भेद कैसे घट सकता है? इसका उत्तर देने में हरिभद्र ने अपने तार्किक बल का पूर्ण रूप से प्रयोग किया है। इस प्रश्न का उत्तर हरिभद्र तीन प्रकार से देते हैं: (१) एक तो यह कि भिन्न-भिन्न सर्वज्ञ के रूप मे माने जाने वाले महापुरुषों का जो भिन्न-भिन्न उपदेश है वह विनेय अर्थात् शिष्य अथवा अधिकारी-भेद को लक्ष्य में रख कर दिया गया है।[२६] (२) दूसरा यह कि वैसे महापुरुषो के उपदेश का तात्त्विक दृष्टि से एक ही तात्पर्य होता है, परन्तु श्रोता-जन अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार उसे भिन्न-भिन्न रूप से ग्रहण करते हैं, फलत देशना एक होने पर भी नाना-जैसी दिखाई पडती है।[२७] (३) तीसरा यह कि देश, काल, अवस्था आदि परिस्थिति-भेद को लेकर महापुरुष भिन्न-भिन्न दृष्टि-बिन्दु से अथवा अपेक्षा-विशेष से भिन्न-भिन्न उपदेश देते हैं, परन्तु वह मूल मे तो है सर्वज्ञमूलक ही।[२८]

हरिभद्र इतना कहकर ही विरत नही होते। वे कहते हैं कि शास्त्र के द्वारा प्राप्त होने वाला ज्ञान जैसे सामान्य-विषयक ही होता है, वैसे अनुमान के द्वारा प्राप्त होने वाला ज्ञान भी सामान्य-विषयक ही होता है, अत अनुमान-ज्ञान के ऊपर सम्पूर्ण आधार नही रखा जा सकता। प्रत्येक वादी अपने पक्ष को सिद्ध करने के लिए अनुमान का आश्रय लेता है और उसी को अन्तिम उपाय मानकर उस पर निर्भर रहता है। इससे हरिभद्र ने भर्तृहरि के वचन को उद्धृत करके अपने वक्तव्य का समर्थन किया है कि एक अनुमान से सिद्ध वस्तुविशेष निपुण विद्वान् के द्वारा प्रयुक्त दूसरे अनुमान से ही

---

२६. इष्टापूर्तानि कर्माणि लोके चित्राभिसन्धित ।
नानाफलानि सर्वाणि द्रष्टव्यानि विचक्षणै ॥
चित्रा तु देशनैतेषा स्याद्विनेयाऽऽनुगुण्यत ।
यस्मादेते महात्मानो भवव्याधिभिषग्वरा. ॥
—योगदृष्टिसमुच्चय, ११३ और १३२.

२७. एकापि देशनैतेषा यद्वा श्रोतृविभेदत ।
अचिन्त्यपुण्यसामर्थ्यात्तथा चित्राऽवभासते ॥
—योगदृष्टिसमुच्चय, १३४

२८ यद्वा तत्तन्नयापेक्षा तत्तत्कालादियोगत ।
ऋषिभ्यो देशना चित्रा तन्मूलैषापि तत्त्वत ॥
—योगदृष्टिसमुच्चय, १३६.

खण्डित हो जाती है, तो फिर उस पर पूरा भरोसा कैसे रखा जा सकता है ?[२९] हरिभद्र ऐसी तर्क-सरणी द्वारा कुतर्कवाद और अभिनिवेश से मुक्त रहने का औचित्य बतलाते हैं और मानो अपनी सन्त-प्रकृति उपस्थित करते हो इस तरह भारपूर्वक कहते हैं कि सामान्य जन का भी प्रतिक्षेप अर्थात् तिरस्कार करना आर्यों के लिए शोभास्पद नही है तो फिर सर्वज्ञ-जैसे महापुरुष का प्रतिक्षेप कैसे योग्य कहा जा सकता है ? ऐसा प्रतिक्षेप, निन्दा या तिरस्कार तो जिह्वाच्छेद की अपेक्षा भी अधिक खराब है।[३०] अन्त मे हरिभद्र सदाशिव, परब्रह्म, सिद्धात्मा तथा तथता आदि सभी नामों को एक निर्वाण-तत्त्व के बोधक कहकर उस-उस नाम से निर्वाणतत्त्व का निरूपण एवं अनुभव करने वाले की भक्ति के बारे मे विवाद करने का निषेध करते है। हरिभद्र का यह प्रकरण मानो दार्शनिको के मिथ्या-अभिनिवेश के पाप का प्रक्षालन करता हो ऐसा प्रतीत होता है।

(५) गीता मे 'बुद्धिर्ज्ञानमसम्मोह:'[३१] पद आता है। हरिभद्र इस पद को लेकर बुद्धि की अपेक्षा ज्ञान की कक्षा और ज्ञान की अपेक्षा असम्मोह की कक्षा कैसी ऊंची है यह रत्न की उपमा देकर समझाते हैं और अन्त मे कहते है कि सदनुष्ठान मे परिणत होने वाला आगमज्ञान ही असम्मोह है।[३२]

(६) न्याय और तर्कशास्त्र एक सूक्ष्म विद्या है। दार्शनिक-ज्ञान के लिए वह आवश्यक भी है, परन्तु बहुत वार समत्व न रहने से तर्क कुतर्क भी बन जाता है। वैसे कुतर्क का स्वरूप समझाने के लिए हरिभद्र ने एक बटुक विद्यार्थी के विकल्प का निर्देश किया है। किसी महावत ने सामने से चले आने वाले नौसिखिये तार्किक बटुक

---

२९ यत्नेनानुमितोऽप्यर्थ. कुशलैरनुमातृभि ।
अभियुक्ततरैरन्यैरन्यथैवोपपाद्यते ॥
—योगदृष्टिसमुच्चय, १४३.

३० न युज्यते प्रतिक्षेप सामान्यस्यापि तत्सताम् ।
आर्यापवादस्तु पुनर्जिह्वाच्छेदाधिको मत ॥
—योगदृष्टिसमुच्चय १३९

३१. अ १०, श्लो ४।

३२ इन्द्रियार्थाश्रया बुद्धिर्ज्ञानं त्वागमपूर्वकम् ।
सदनुष्ठानवच्चैतदसमोहोऽभिधीयते ॥
रत्नोपलम्भतज्ज्ञान–तत्प्राप्त्यादि यथाक्रमम् ।
इहोदाहरण साधु ज्ञेय बुद्ध्यादिसिद्धये ॥
—योगदृष्टिसमुच्चय ११९–२०

को सम्बोधित करके कहा कि हाथी मार डालेगा, एक ओर हट जाओ ! वह बटुक विकल्प-पटु और तर्करसिक था। उसने महावत से कहा कि हाथी अपने साथ सम्पर्क मे आनेवाले को मारे या सम्पर्क में न आनेवाले को भी मारे ? पहले पक्ष मे तो उसे तुझे ही मार डालना चाहिए, क्योकि तू उसके साथ सम्पर्क मे आया हुआ है; और दूसरे पक्ष मे मेरी तरह अनेक लोग ऐसे है जो उसके सम्पर्क में नही आये, तो फिर मुझे ही वह क्यों मारे ?[३३] हरिभद्र इस विनोदपूर्ण उदाहरण के द्वारा तत्व-चर्चा मे प्रयुक्त होने वाले कल्पना-जाल का निर्देश करके अध्यात्म के साधक को उससे बचने की चेतावनी देते है।

कुतर्क एवं अभिनिवेश से निवृत्त हुए बिना योग की परिपक्व भूमिका रूप पांचवी दृष्टि मे प्रवेश शक्य ही नही है। इसके पश्चात् तो हरिभद्र ने अनुक्रम से एक से एक ऊंची दृष्टि का निरूपण किया है और उनमे योग के उपर्युक्त आठ अंगों को घटाया है, परन्तु उनके अर्थ का विस्तार करके। इसके अतिरिक्त भी योगदृष्टिसमुच्चय मे हरिभद्र ने अनेक ज्ञातव्य एवं अन्यत्र दुर्लभ-ऐसी बातो का भी निर्देश किया है, परन्तु मेरा यह अवलोकन तो उस विषय के जिज्ञासुओ की दृष्टि का उन्मेष करने तक ही मर्यादित है, अतः उसकी विशेष चर्चा के लिए यहां स्थान नही है।

योगबिन्दु का परिमाण जैसा बड़ा है, वैसे ही उसमे निरूपित विषय भी अनेक हैं और वे तत्त्वज्ञान एवं योगसाधना की दृष्टि से बहुत महत्त्व के भी है; फिर भी इस स्थान पर तो उनमे से खास खास विषयों को लेकर ऐसी चर्चा करने का विचार है जो विशेष जिज्ञासु को योगबिन्दु का आकलन करने के लिए प्रेरित करे—

(१) दार्शनिक परम्पराओं मे विश्व के स्रष्टा-संहर्ता के रूप मे ईश्वर की चर्चा आती है। कोई वैसे ईश्वर को कर्म-निरपेक्ष कर्ता मानता है, तो कोई दूसरा कर्म-सापेक्ष कर्ता मानता है।[३४] और तीसरा कोई ऐसा भी है जो स्वतंत्र व्यक्ति के रूप

---

३३. जातिप्रायश्च सर्वोऽय प्रतीतिफलबाधित ।
हस्ती व्यापादयत्युक्तौ प्राप्ताप्राप्तविकल्पवत् ॥
—योगदृष्टिसमुच्चय, ९१

३४. ननु महदेतदिन्द्रजाल यन्निरपेक्ष· कारणमिति तथात्वे कर्मवैफल्य सर्वकार्याणा समसमयसमुत्पादश्चेति दोषद्वयं प्रादुष्ष्यात् । मैवं मन्येथा ।
—सर्वदर्शनसग्रहगत नकुलीशपाशुपतदर्शन, पृ० ६५

तमिम परमेश्वर कर्मादिनिरपेक्षः कारणमिति पक्ष वैषम्यनैर्घृण्यदोषदूषित-त्वात्प्रतिक्षिपन्त केचन माहेश्वरा शैवागमसिद्धान्ततत्त्व यथावदीक्षमाणा कर्मादिसापेक्ष परमेश्वर कारणमिति पक्षं कक्षीकुर्वाणा पक्षान्तरमुपक्षिपन्ति ।
—सर्वदर्शनसग्रहगत शैवदर्शन, पृ० ६६

मे ईश्वर को मानता ही नही है।[३५] इस प्रकार ईश्वर के विषय मे अनेक प्रवाद प्रचलित है, परन्तु वे सभी विश्वसर्जन को लक्ष्य मे रखकर प्रवृत्त हुए है। योग-परम्परा मे ईश्वर का विचार जब उपस्थित होता है, तब वह सृष्टि के कर्ता-धर्ता के रूप मे नही, किन्तु साधना मे अनुग्राहक के रूप मे। कई साधक ऐसी अनन्य भक्ति से साधना करने के लिए प्रेरित होते है कि स्वतंत्र ईश्वर सम्पूर्णत. अनुग्रहकर्ता है; उसका अनुग्रह न हो तो कुछ करने का मेरा सामर्थ्य है ही नही। इस बात को लेकर हरिभद्र ने अपना दृष्टि-बिन्दु उपस्थित करते हुए कहा है कि महेश का अनुग्रह माने तो भी साधक-पात्र मे अनुग्रह प्राप्त करने की योग्यता माननी ही पडेगी। वैसी योग्यता के बिना महेश का अनुग्रह भी फलप्रद नही बन सकता।[३६] इससे ऐसा फलित होता है कि साधक की योग्यता मुख्य वस्तु है। उसके होने पर ही अनुग्रह के विषय मे विचार किया जा सकता है। जब साधक अपनी सहज योग्यता के विकासक्रम मे अमुक भूमिका तक पहुचता है, तभी वह ईश्वर के अनुग्रह का अधिकारी बन सकता है। इसके अतिरिक्त ईश्वर के अनुग्रह को मानने पर या तो सभी को अनुग्रह-पात्र मानना पडेगा, या फिर किसी को भी नही। इस प्रकार साधक की योग्यता का तत्व मानने के बाद यह प्रश्न होता है कि अनुग्रहकारी ईश्वर कोई अनादि-मुक्त स्वतंत्र व्यक्ति है अथवा तो स्वप्रयत्न के बल से परिपूर्ण शुद्ध हुआ कोई व्यक्ति है? हरिभद्र कहते हैं कि अनादिमुक्त ऐसे कर्ता ईश्वर की सिद्धि तर्क से शक्य नही है;[३७] फिर भी प्रयत्न-सिद्ध शुद्ध आत्मा को परमात्मा मानने मे किसी आध्यात्मिक को आपत्ति नही है। अतएव वैसे प्रयत्नसिद्ध वीतराग की अनन्यभक्ति के द्वारा जो गुण-विकास होता है उसे ईश्वर का अनुग्रह मानने में कोई हर्ज भी नही है।[३८] इस तरह हरिभद्र ने अनु-ग्राहक के रूप मे स्वतंत्र ईश्वर को स्वीकार न करने पर भी साधक की योग्यता और वीतराग के आदर्श का अनुगमन इन दोनो के सवाद को साधना मे फलावह बतलाया है। ऐसी फलावहता बताते समय उन्होने कहा है कि वैसा वीतराग चाहे जो हो सकता है, अर्थात् उसका किसी देश, जाति, पंथ या नाम के साथ अनिवार्य सम्बन्ध नही है। इस चर्चा के द्वारा हरिभद्र ने साधना मे भक्तितत्व की उपयोगिता, साधक की

---

३५. देखो 'भारतीय तत्त्वविद्या', पृ १०९ और १११।

३६. देखो 'योगबिन्दु', श्लो २९५-से।

३७ वही, श्लो ३०३ और ३१०, 'शास्त्रवार्तासमुच्चय', १९४–२०७।

३८. गुणप्रकर्षरूपो यत् सर्वैर्वन्द्यस्तथेष्यते।
देवतातिशय कश्चित् स्तवादे फलदस्तथा॥

—योगबिन्दु, २९८

अपनी पात्रता और आदर्श के अनुसरण की अनिवार्यता-इन सभी तत्त्वों का मध्यस्थ भाव से मेल बैठाया है।

(२) विश्वसर्जन के कारण के रूप मे क्या मानना—इस बारे मे अनेक प्रवाद पुरातन काल से प्रचलित हैं। काल, स्वभाव, नियति, यदृच्छा, भूत और पुरुष आदि तत्त्वो मे से कोई एक को, तो कोई दूसरे को कारण मानता है। ये प्रवाद श्वेताश्वतर उपनिषद् (१ २) मे तो निर्दिष्ट है ही, परन्तु महाभारत[३९] आदि अनेक ग्रन्थो मे भी इनका निर्देश है। सिद्धसेन दिवाकर ने इन प्रवादों का समन्वय करके सबकी गणना सामग्री के रूप मे कारण कोटि मे की है।[४०] परन्तु ये सभी चर्चाएँ सृष्टि के कार्य को लक्ष्य मे रख कर हुई है, किन्तु हरिभद्र ने योगबिन्दु मे इसकी जो चर्चा की है वह तो साधना की दृष्टि से है। उन्होने अन्त मे सामग्रीकारणवाद को स्वीकार करके कहा है कि ये सभी वाद ऐकान्तिक है, परन्तु साधना की फलसिद्धि मे काल, स्वभाव, नियति, दैव, पुरुषकार इत्यादि सभी तत्त्वो को, अपेक्षा-विशेष से, स्थान है ही[४१] ऐसा कहकर उन्होने इन सभी आपेक्षिक दृष्टियो का विस्तार से स्पष्टीकरण भी किया है।

(३) भवाभिनन्दिता या भोगरस का नशा जब उतरने लगता है, तभी योगाभिमुखता का बीजवपन होता है—यह बात उपस्थित करते हुए हरिभद्र ने अपने विचार के समर्थन मे साख्याचार्य गोपेन्द्र के मन्तव्य का निर्देश करके कहा है कि गोपेन्द्र जैसे साख्याचार्य भी शव्दान्तर से यही बात कहते हैं। यह शव्दान्तर यानी पुरुष पर के प्रकृति के अधिकार की निवृत्ति। पुरुष का दर्शन न होने तक ही प्रकृति का सर्जनबल रहता है, उसका दर्शन होते ही वह सर्जन-कार्य से निवृत्त होती है। यह निवृत्ति ही उसकी मोक्षाभिमुखता है।[४२] हरिभद्र साख्य एवं जैन परिभाषा की तुलना करते हुए

---

३९ कालवाद के लिए 'महाभारत' गत शान्तिपर्व के अध्याय २५, २८, ३२, ३३, आदि; यदृच्छावाद के लिए उसी मे अध्याय ३२, ३३; स्वभाववाद के लिए भी उसीमे अध्याय २५। विशेष के लिए देखो 'गणधरवाद' प्रस्तावना पृ ११३–७।

४०. देखो 'सन्मतितर्क' काण्ड ३, गाथा ५३ और उसकी टीका के टिप्पण।

४१ देखो 'शास्त्रवार्तासमुच्चय' श्लोक १६४–९२, 'योगबिन्दु' श्लोक १९७, २७५, २९२, ३१३।

४२ देखो इसी व्याख्यान की पादटीप ६, तथा—

एव लक्षणयुक्तस्य प्रारम्भादेव चाप॰.।
योग उक्तोऽस्य विद्वद्भिर्गोपेन्द्रेण यथोदितम् ॥
योजनाद् योग इत्युक्तो मोक्षेण मुनिसत्तमैं।
स निवृत्ताधिकाराया प्रकृतौ लेशतो ध्रुव ॥

—योगबिन्दु २००–१

कहते है कि साख्य जिसे प्रकृति के अधिकार की निवृत्ति कहते हैं उसीको जैन कर्म-प्रकृति की तीव्रता का ह्रास कहते है।[४३] हरिभद्र का यह तुलनात्मक दृष्टिविन्दु साख्य और जैन-परम्परा के बीच देखी जाने वाली अनेकविध समानता को विशेष अभ्यासी के लिए प्रेरणादायी बन सकता है।

(४) बौद्ध परम्परा की – खास करके महायान की – एक परिभाषा के साथ जैन परिभाषा की तुलना करके हरिभद्र ने जो सार निकाला है वह उनकी गहरी सूझ बतलाता है। महायानी बौद्धो मे 'बोधिसत्त्व' पद प्रसिद्ध है। जो चित्त केवल अपनी मुक्ति मे ही कृतार्थता न मानकर सबकी मुक्ति का आदर्श रखता है और उसी आदर्श की सिद्धि का सकल्प करता है वह चित्त बोधिसत्व है। हरिभद्र कहते है कि यही बात जैन-परम्परा मे 'सम्यग्दृष्टि' पद से कही गई है। जब कोई जीव अपने ऊपर छाये हुए तीव्र क्लेशावरण के मन्द होने पर तथा मोहग्रन्थि का भेद होने पर योगाभिमुख होता है, तब वह अपने उद्धार के साथ विश्वोद्धार का भी महान् संकल्प करता है। जैन-परिभाषा के अनुसार ऐसा सकल्प करने वाला सम्यग्दृष्टि जीव ही बौद्ध-परिभाषा के अनुसार बोधिसत्त्व है।[४४] परन्तु साथ ही हरिभद्र ऐसा भी सूचित करते हैं कि सभी

देखो योगविन्दु—

४३ अत्राप्येतद्विचित्राया' प्रकृतेर्युज्यते परम्।
इत्यमावर्तभेदेन यदि सम्यग्निरूप्यते ॥१०६॥

…… एतन्निवृत्ताधिकारत्वम्। विचित्रायास्तत्सामग्रीवशेन नानारूपाया। प्रकृते कर्मरूपाया।…..

प्रकृतेर्भेदयोगेन नासमो नाम आत्मन।
हेत्वभेदादिद चारु न्यायमुद्रानुसारत ॥१९५॥

प्रकृते परपरिकल्पिताया सत्त्वरजस्तमोरूपाया स्वप्रक्रियायाश्च ज्ञानावरणादि-लक्षणाया।……

अविद्याक्लेशकर्मादि यतश्च भवकारणम्।
तत. प्रधानमेवैतत् सज्ञाभेदमुपागतम् ॥३०५॥

तथा देखो शास्त्रवार्तासमुच्चयमे —
अत्रापि पुरुषस्यान्ये मुक्तिमिच्छन्ति वादिन।
प्रकृतिं चापि सन्न्यायात् कर्म्मप्रकृतिमेव हि ॥२३२॥

४४ अयमस्यामवस्थाया बोधिसत्त्वोऽभिधीयते।
अन्यैस्तल्लक्षण यस्मात् सर्वमस्योपपद्यते ॥

कायपातिन एवेह बोधिसत्त्वा. परोदितम्।
न चित्तपातिनस्तावदेतदत्रापि युक्तिमत् ॥

परार्थरसिको धीमान् मार्गगामी महाशय।
गुणरागी तथेत्यादि सर्वं तुल्य द्वयोरपि ॥

जीव या सत्त्व ऐसे संकल्प के अधिकारी नही होते; कोई इससे मन्द अथवा कुछ निम्न कक्षा के संकल्प भी कर सकते है और उसके अनुसार सिद्धि भी प्राप्त कर सकते है।[४५] हरिभद्र के कथन का मुख्य हार्द तो यह है कि संकल्प एक अक्षोभ्य प्रेरक बल है। वह जितना महान्, उतना ही मनुष्य महान् बन सकता है; परन्तु वे मानसिक विकास के तारतम्य को लक्ष्य मे रखकर यह भी सूचित करते है कि भिन्न-भिन्न साधको का संकल्पबल अल्पाधिक भी होता है।[४६] ऐसा निरूपण करते समय उन्होने जैन-परम्पराम‍े सुविदित तीर्थंकर,[४७] गणधर[४८] और मुण्डकेवली[४९] आदि योगियों की उच्चावच्च अवस्था का स्पष्टीकरण भी किया है।

(५) हरिभद्र ने धर्म के बारे मे पारमार्थिकता और व्यावहारिकता का अन्तर समझने के लिये सबको सदा काम मे आ सके ऐसी एक कसौटी रखी है। वे कहते है कि जो धर्म लोकाराधन या लोकरंजन के लिए पाला जाता है उसे लोकपंक्ति या

यत्सम्यग्दर्शन बोधिस्तत्प्रधानो महोदय ।
सत्त्वोऽस्तु बोधिसत्त्वस्तद्धन्तैषोऽन्वर्थतोऽपि हि ॥
वरबोधिसमेतो वा तीर्थकृद् यो भविष्यति ।
तथा भव्यत्वतोऽसौ वा बोधिसत्त्व सता मत ॥
—योगबिन्दु २७०–७४

४५. सासिद्धिकमिद ज्ञेय सम्यक्चित्र च देहिनाम् ।
तथा कालादिभेदेन बीजसिद्धयादिभावत ॥
—योगबिन्दु २७५

४६ अनेन भवनैर्गुण्य सम्यग्वीक्ष्य महाशय ।
तथाभव्यत्वयोगेन विचित्र चिन्तयत्यसौ ॥
—योगबिन्दु, २८४

४७. मोहान्धकारगहने ससारे दु खिता वत ।
सत्त्वा परिभ्रमन्त्युच्चै सत्यस्मिन्धर्मतेजसि ॥
अहमेतानत. कृच्छ्राद् यथायोग कथचन ।
अनेनोत्तारयामीति वरबोधिसमन्वित ॥
करुणादिगुणोपेत परार्थव्यसनी सदा ।
तथैव चेष्टते धीमान् वर्धमानमहोदय. ॥
तत्तत्कल्याणयोगेन कुर्वन्सत्त्वार्थमेव स ।
तीर्थकृत्त्वमवाप्नोति पर सर्वार्थसाधनम् ॥
—योगबिन्दु, २८५–८

४८. चिन्तयत्येवमेवैतत् स्वजनादिगत तु य. ।
तथानुष्ठानत. सोऽपि धीमान् गणधरो भवेत् ॥
—योगबिन्दु, २८६

४९ सविग्नो भवनिर्वेदादात्मनि सरण तु य ।
आत्मार्थसम्प्रवृत्तोऽसौ सदा स्यान्मुण्डकेवली ॥
—योगबिन्दु, २९०

लोकसंज्ञा कहते हैं,[५०] जो सच्चा धर्म नहीं है; फिर भी एकमात्र धर्म की दृष्टि रख करके ही लोकानुसरण किया जाय तो वह धर्म की यथार्थता मे हानिकारक नही होता।[५१]

(६) आत्मा आदि अतीन्द्रिय तत्त्व और उनके विविध स्वरूपो के बारे मे अनेक वादी तार्किक चर्चा-प्रतिचर्चा करते आये हैं और सत्य के नाम पर परस्पर क्लेश का पोषण करते रहे है। यह देखकर हरिभद्र ने निर्भय वाणी मे कहा है कि वैसे अतीन्द्रिय तत्त्व योगमार्ग के बिना गम्य नही हैं। वाद-ग्रन्थ उनमे सहायक नही बन सकते। अपने इस विचार का समर्थन उन्होने किसी अज्ञात योगी का वचन उद्घृत करके किया है। उस वचन का भाव यह है कि जिन्हे सही अर्थ मे निश्चय न हुआ हो और जो सिर्फ परम्परा की मान्यता के ऊपर स्थिर रहकर वाद-प्रतिवाद करनेवाले ग्रन्थमात्र-जीवी हैं वे कभी तात्त्विक स्वरूप जान नही सकते, और घानी के बैल की तरह वे खण्डन-मण्डन के चक्र मे घूमते ही रहते है।[५२] हरिभद्र का यह कटाक्ष गुजराती ज्ञानी कवि 'अखा' की निम्न उक्ति का स्मरण कराता है—

> "खट दर्शनना जूजवा मता, मांहोमाहे तेणे खाधी खता,
> एकनु थाप्युं बीजो हणे, अन्यथी आपने अधिको गणे।
> अखा ए अन्धारो कूवो, झगडो भागी को नव मूओ।"
>
> —अखाना छप्पा, ३

---

५०. लोकाराधनहेतोर्या मलिनेनान्तरात्मना।
क्रियते सत्क्रिया साऽत्र लोकपक्तिरुदाहृता॥
—योगविन्दु, ८८

५१. धर्मार्थं लोकपक्ति स्यात्कल्याणाग महामते।
तदर्थं तु पुनर्धर्म पापायाल्पधियामलम्॥
—योगविन्दु, ९०

५२ एव च तत्त्वससिद्धेर्योग एव निबन्धनम्।
अतो यन्निश्चितंवेय नान्यतस्त्वीदृशी क्वचित्॥
अतोऽत्रैव महान्यत्नस्तत्तत्तत्त्वप्रसिद्धये।
प्रेक्षावता सदा कार्यो वादग्रन्थास्त्वकारणम्॥
उक्त च योगमार्गज्ञैस्तपोनिर्धूतकल्मषै।
भावियोगिहितायोच्चैर्मोहदीपसम वच॥
वादाश्च प्रतिवादाश्च वदन्तो निश्चितास्तथा।
तत्त्वान्त नैव गच्छन्ति तिलपीलकवद्गतौ॥
—योगविन्दु, ८४–७

अर्थात् छहो दर्शनों के भिन्न-भिन्न मत है, वे आपस मे लडते-झगड़ते रहते है। एक के स्थापित किये हुए मत का दूसरा खण्डन करता है और अपने आपको बडा समझता है। विभिन्न मत-मतान्तर अन्धेरे कुएँ के सदृश हैं। उनके झगडे का कभी निवटारा होता ही नही है।

(७) हरिभद्र ने धर्मबिन्दु आदि अपने दूसरे ग्रन्थों मे सामाजिक धर्मो के आचरण पर जो भार दिया है वह योगबिन्दु मे भी है, परन्तु योगबिन्दु मे उसकी विशेष स्पष्टता है। इसे देखने पर ऐसा प्रतीत होता है कि हरिभद्र ने जैन और वैसी दूसरी निवृत्तिमार्गी परम्पराओ के वैयक्तिक हित-साधन का दृष्टिबिन्दु देखकर सोचा होगा कि कोई भी व्यक्ति सामाजिक जीवन के सहकार के बिना धर्म का पालन कर ही नही सकता। आध्यात्मिक मार्ग पर प्रगति करनी हो तो उसकी पहली शर्त यह है कि सामाजिक धर्म एवं मर्यादाओ का योग्य पालन करके मनुष्य को अपना मन विकसित करना चाहिए और अनेक सद्गुणो को जीवन मे उतारना चाहिए। बहुत बार ऐसा होता है कि मनुष्य आध्यात्मिकता के नाम पर अवश्य आचरणीय सामाजिक कर्तव्यो को भी जानबूझ कर छोड देता है। ऐसे किसी उदात्त विचार से हरिभद्र ने आध्यात्मिक मार्ग की प्राथमिक तैयारी के रूप मे 'पूर्वसेवा'[५३] के नाम से अनेक कर्तव्य सूचित किये हैं। उसमे 'गुरुदेवादिपूजन' (श्लोक १०९) शब्द से अनेक बातें सूचित की है। वे कहते हैं कि माता, पिता, कलाचार्य, उनके संबंधी, वृद्ध एवं धर्मोपदेशक—ये सब गुरुवर्ग मे आते है।[५४] इन सबकी योग्य प्रतिपत्ति अर्थात् सेवा-शुश्रूषा करनी चाहिए। देवपूजा के विषय मे वे कहते हैं कि महानुभाव गृहस्थो के लिए सब देवो का समुचित आदर कर्तव्य है, इसी से अपने मान्य देव से भिन्न दूसरे देवो के प्रति अरुचि अथवा हीन भाव की वृत्ति दूर हो सकती है।[५५] ऐसी सर्वदेव-नमस्कार की उदात्त वृत्ति अन्त मे लाभदायी ही सिद्ध होती है– यह बतलाने के लिए उन्होने 'चारि

---

५३ योगबिन्दु, श्लोक, १०९ से।

५४ योगबिन्दु, श्लोक, ११०।

५५. अविशेषेण सर्वेषामधिमुक्तिवशेन वा।
गृहिणा माननीया यत् सर्वे देवा महात्मनाम्॥
सर्वान्देवान्नमस्यन्ति नैकं देवं समाश्रिता।
जितेन्द्रिया जितक्रोधा दुर्गाण्यतितरन्ति ते॥
—योगबिन्दु, ११७–८

संजीवनीचार' का दृष्टान्त दिया है।[५६] इस दृष्टान्त का भाव ऐसा है: कोई एक स्त्री अपने पति को बस मे रखने के लिए किसी के पास से जडी-बूटी लेकर और अपने पति को खिलाकर पशु के रूप मे उसे चराती थी और वह जब चाहे तब दूसरी जडी बूटी से अपने पति को पशु मे से पुरुष बना देती थी। एक बार वनस्पति के जंगल मे वह स्त्री वारक जडी-बूटी भूल गई और गहरे विषाद मे डूब गई। इस बीच उस जंगल मे से होकर जानेवाले किसी योग्य महानुभाव ने उस स्त्री का दुःख जानकर उद्गार निकाला कि इसमे विषाद की क्या बात है? वह वारक जडी-बूटी भी वही है। सभी वनस्पतियो को चराया जाय तो वह वारक औषधि भी बैल खा जायगा जिससे वह अपने असली रूप मे आ सकेगा। यह वाणी सुनकर उस स्त्री ने वैसा ही किया, जिससे वह पुरुष अपने मूल रूप मे आ गया। सम्भव है यह दृष्टान्त पुराना हो, परन्तु इसका विनियोग सर्वदेवो के प्रति समान-आदर रखने के भाव मे करके हरिभद्र ने भिन्न-भिन्न पंथो के बीच देवो के नाम पर होने वाले झगडो को मिटाने का सर्व-धर्म समन्वय सूचक एक सामाजिक मार्ग दिखलाया है।

उन्होने गुरुओं एवं देवो के प्रति भक्ति-भावना के अतिरिक्त दूसरे एक महत्त्व के सामाजिक कर्तव्य का भी सूचन किया है। वह है रोगी, अनाथ, निर्धन आदि निस्सहाय वर्ग की सहायता करना, परन्तु वह सहायता ऐसी न होनी चाहिए कि जिससे अपने आश्रित जनो की उपेक्षा होने लगे[५७]। आध्यात्मिक अथवा लोकोत्तर धर्म के साथ ऐसे अनेकविध लौकिक कर्तव्यो को संकलित करके हरिभद्र ने जैन परंपरा के प्रवर्त्तक धर्म का महत्त्व जिस विशदता से समझाया है वह निवृत्तिलक्षी जैन-परंपरा मे टूटती कडी का सन्धान करता है।

(८) जैन-परम्परा मे आध्यात्मिक विकासक्रम की सूचक चौदह भूमिकाएं 'गुणस्थान' के नाम से प्रसिद्ध हैं, परन्तु हरिभद्र ने उन भूमिकाओ को योगबिन्दु मे अध्यात्म, भावना, ध्यान, समता और वृत्तिसंक्षय इन पांच भागो मे विभक्त करके

---

५६ चारिसजीवनीचारन्याय एष सता मत ।
नान्यथाऽत्रेष्टसिद्धि स्याद्विशेषेणादिकर्मणाम् ॥
—योगबिन्दु, ११९

५७. पात्रे दीनादिवर्गे च दानं विधिवदिष्यते ।
पोष्यवर्गाविरोधेन न विरुद्ध स्वतश्च यत् ॥
—योगबिन्दु, १२१

उनका निरूपण किया है।[५८] इसी के साथ उन्होने साख्य-योग परम्परा की सम्प्रज्ञात एवं असम्प्रज्ञात इन दो भूमिकाओ की उक्त पाँच भूमिकाओ के साथ तुलना भी की है। वे कहते हैं कि इन पाँच मे से प्रारम्भ की चार सम्प्रज्ञात है और अन्तिम असम्प्रज्ञात है। सम्प्रज्ञात भूमिका तक मनोव्यापार चलता है, परन्तु असम्प्रज्ञात अवस्था[५९] प्राप्त होते ही सबीज, क्लेशवृत्ति का नाश होता है। इसी को निर्बीज समाधि कहते हैं। साख्यानुसारी योगशास्त्र की इस मान्यता के साथ हरिभद्र ने तुलना तो की है, परन्तु जैन और साख्य तत्त्वज्ञान का मूलगत जो भेद है तथा उसी को लेकर वृत्तिसंक्षय का जो अर्थ जैन-परम्परा के साथ संगत हो सकता है वह भी उन्होने बतलाया है।[६०]

पतंजलि चित्तवृत्ति के निरोध को योग कहते है।[६१] चित्तवृत्ति क्लिष्ट भी होती है और अक्लिष्ट भी। अज्ञान एवं तृष्णा जैसे क्लेशो अथवा मलों के निवारण के बारे मे तो किसी का मतभेद है ही नही, परन्तु प्रश्न यह है कि क्लेश निर्मूल हो और चित्त मे ज्ञान, प्रेम आदि अक्लिष्ट वृत्तियों का चक्र चले, तो क्या उसका भी निरोध करना ? इसका उत्तर साख्य, न्याय, वैशेषिक, अद्वैत, वेदान्ती तथा कई बौद्धो ने प्राय. एक-जैसा ही दिया है। वह उत्तर है· विदेह मुक्ति के समय शरीर की भाँति चित्त या मन का भी सर्वथा विसर्जन। यदि चित्त अथवा मन का ही विलय हो, तो फिर अक्लिष्ट वृत्ति पैदा ही किसमे हो ? इससे मुक्त-दशा मे विशुद्ध ज्ञान या विशुद्ध आनन्द जैसी वृत्तियो के लिए भी अवकाश है ही नही।[६२] हरिभद्र इस मान्यता से अलग पडकर ऐसा स्थापित करते है कि मुक्त दशा मे अक्लिष्ट वृत्तियों का भी निरोध होता है, इसका अर्थ सिर्फ इतना ही हो सकता है कि मानसिक कल्पनाओं और व्यापारो का देह-व्यापार की भाँति विलय, नही कि चेतन की सहज एवं निरावरण ज्ञान, प्रेम, आनन्द आदि वृत्तियो का विलय।[६३] हरिभद्र अपना मत स्थापित करते समय जैन-परम्परा-सम्मत आत्मा का परिणामिनित्यत्व युक्तिपूर्वक सिद्ध करते है तथा पुरुष अथवा आत्मा की कूटस्थ नित्यता का एवं बौद्ध-सम्मत क्षणिक चित्तसन्तति का प्रतिवाद करते हैं।

---

५८. देखो 'योगबिन्दु' श्लोक ३१।

५९ वही, श्लोक ४१९–२३, तथा योगदर्शनकी यशोविजयजीकी व्याख्या १. १७-८।

६० देखो 'योगबिन्दु' श्लोक ४०५–१५।

६१ देखो 'योगसूत्र' १. २।

६२ देखो 'योगबिन्दु' श्लोक ४२७ से।

६३. वही, श्लोक ४५६।

(६) क्लेश-निवारण के ध्येय को दृष्टि-समक्ष रखकर ही योगमार्ग की विविध प्रणालिकाए अस्तित्व मे आई हैं, परन्तु उनमे एक ऐसी भ्रान्ति पैदा हो गई है कि मन स्वयं ही क्लेशो का धाम है। फलत. उसमे जो वृत्तिया या कल्पनाएं उदयमान होती है वे सभी बन्धनरूप हैं, अतएव मनोव्यापार के सर्वथा अवरोध का नाम ही निर्विकल्प समाधि है। इस तरह क्लेश का नाश करने के लिए प्रवृत्त होने पर क्लेश-रहित वृत्तियो का भी उच्छेद एक योगकार्य माना गया। इसके अनेक अच्छे-बुरे उपाय खोजे गये। इनमे से एक ऐसे उपाय की स्थापना करनेवाला पक्ष अस्तित्व मे आया कि ध्यान का मतलव ही यह है कि चित्त को प्रत्येक प्रकार के व्यापार से रोकना। इसी का नाम है विकल्पना-निवृत्ति। इस पक्ष से सम्बन्ध रखने वाली एक मनोरजक कहानी भोट भापा मे लिखे गये कमलशील के जीवन मे से उपलव्ध होती है। होशंग नाम का एक चीनी भिक्षु तिव्बत के तत्कालीन राजा को अपनी योग-विषयक मान्यता इस तरह समझाता था कि ध्यान करने का अर्थ ही यह है कि मन को विचार करने से रोकना। एक वार उस राजा को इस प्रश्न के बारे मे सच्चा वौद्ध मन्तव्य क्या है यह जानने की इच्छा हुई। उसने नालन्दा विश्वविद्यालय के विद्वान् कमलशील को तिव्वत मे बुलाया। होशंग और कमलशील के बीच शास्त्रार्थ हुआ। मध्यस्थ के स्थान पर राजा था। जो हारे वह जीतने वाले को माला पहनाये और तिव्वत मे से चला जाय, ऐसी शर्त थी। होशंग ने अपना पक्ष उपस्थित किया। उस समय कमलशील ने उसके उत्तर में जो कुछ कहा वह मनोविलयवादियो के लिए विचारने जैसा है। कमलशील ने कहा कि मन जिस विषय के विचारो को रोकने का प्रयत्न करेगा वह विपय उसकी स्मृति मे आयगा ही। इसके अलावा यदि कोई विचित्र उपायो से मन को सर्वथा कुण्ठित करने का या निष्क्रिय वनाने का प्रयत्न करेगा, तो भी वह थोडे समय के पश्चात् पुनः विचार करने लगेगा। वह निष्क्रियता ही मन मे विद्रोह करके विचार-चक्र चालू करेगी। मन का स्वभाव ही ऐसा है कि वह क्षणभर के लिए भी विचार किये विना नही रह सकता। ऐसा कहकर कमलशील ने वौद्ध-परिभापा के अनुसार वतलाया कि जो योगी लोकोत्तर प्रज्ञा की भूमिका में जाना चाहता हो अथवा तो सम्वोधप्रज्ञा प्राप्त करने की अभिलाषा रखता हो, उसे तो सम्यक् प्रत्यवेक्षणा करनी ही चाहिए। अपने आपकी तथा जगत् की वस्तुओं एवं घटनाओ की प्रत्यवे-क्षणा करने का मतलव है उनमे क्षणिकता एवं अनात्मा की भावना करना। यह भावना ही विकल्पना का निरोध है, नही कि शून्यता के नाम पर मन को निष्क्रिय एवं कुण्ठित वनाना। कमलशील की इन दलीलो से होशंग, जो प्रज्ञापारमिता का अर्थ

शून्यवाद की दृष्टि से स्वकल्पना के बल पर करता था वह निरुत्तर हो गया और कमलशील की जय हुई।[६४]

कमलशील बोधिसत्त्व के रूप मे प्रतिष्ठित शान्तरक्षित के शिष्य और विशिष्ट व्याख्याकार थे। योगाचार परम्परा मे विज्ञानवाद का विकास होने पर जो वज्रयान नाम की शाखा निकली थी उसके ये दोनों गुरु-शिष्य समर्थक थे। वे मानते थे कि मुक्ति दशा में विशुद्ध क्षणिक ज्ञान-सन्तति चालू रहती ही है; ज्ञान-सन्तति का लोप हो ही नही सकता। यह उनका महासुखवादी सिद्धान्त है। इस जगह कमलशील की यह कहानी कहने का उद्देश्य इतना ही है कि हरिभद्र और ये विज्ञानवादी इस बारे मे सर्वथा एकमत है कि मुक्ति अथवा महासुख अवस्था मे ज्ञानधारा चालू रहती ही है। हरिभद्र इस ज्ञानधारा को स्थिर आत्मद्रव्य मे घटाते है,[६५] तो विज्ञानवादी वैसे स्थिर द्रव्य को माने विना घटाते हैं;[६६] परन्तु ये दोनो विचार इतना तो स्थापित करते ही हैं कि पुरुष, चेतन, आत्मा या ब्रह्म यदि चैतन्यस्वरूप हो तो वह सर्वथा ज्ञान-धारावर्जित हो ही नही सकता।

(१०) हरिभद्रने योगबिन्दुमें जैन दृष्टि से सर्वज्ञत्व का स्वरूप स्थापित किया है और कुमारिल, धर्मकीर्ति जैसो के साक्षात् सर्वज्ञत्व के विरोधी विचारो का प्रतिवाद भी किया है।[६७] यहा हरिभद्र के सामने ऐसा प्रश्न उठाया जा सकता है कि जब वे जैन सम्मत विशेष सर्वज्ञत्व की स्थापना करते है, तब वे एक मत-विशेष का पुरस्कार करते हैं, तो इसे एक अभिनिवेश क्यो नही कहा जा सकता? स्वयं उन्होने ही योग-दृष्टिसमुच्चयमे सर्वज्ञविशेष की मान्यता को अभिनिवेश मानकर छोड दिया है और सामान्य-सर्वज्ञत्व का ही पुरस्कार करके सभी आध्यात्मिक तत्त्वज्ञो को सर्वज्ञ माना है। तो फिर क्या यह विरोध नही है? मुझे विचार करते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि इसमे विरोध-जैसा कोई तत्व नही है। जिस प्रकार पतंजलि ने योगसूत्र के चौथे पाद मे अपनी तात्त्विक मान्यता से अलग पडनेवाली विज्ञानवादी की मान्यता की आलोचना की है, जिस प्रकार योगवाशिष्ठ आदि मे ब्रह्माद्वैतका स्थापन और दूसरी मान्यताओ का

---

६४. देखो 'तत्त्वसग्रह' की प्रस्तावना पृ १६८।

६५ देखो योगविन्दु ४२७ से।

६६ प्रभास्वरमिद चित्त तत्त्वदर्शनसात्मकम्।
प्रकृत्यैव स्थितं यस्मान्मलास्त्वागन्तवो मता.॥
—तत्त्वसग्रह, ३४३५

६७. देखो योगविन्दु ४२७ से।

निषेध है; उसी प्रकार हरिभद्र ने जैन संस्कार से पुष्ट और अपने आपको युक्तियुक्त जंचनेवाली अपनी तात्त्विक मान्यता को तत्त्वदृष्टि का विचार करते समय, तटस्थ-भाव से उपस्थित किया है। उन्होने उसमे अभिनिवेश न बतलाकर अन्त मे कहा है कि मैंने जो कुछ कहा है वह मध्यस्थ दृष्टि से कहा है। यदि विद्वानो को वह युक्त प्रतीत हो तो उस पर वे विचार कर सकते है। विद्वत्ता का फल ही यह है कि उसकी दृष्टि मे यह सिद्धान्त मेरा और यह पराया, ऐसा पक्ष हो ही नही सकता। उसे जो युक्तियुक्त एवं बुद्धिगम्य लगे उसी को वह माने।[६८]

योगदृष्टिसमुच्चय मे उनका भार पथ-पंथ और दर्शन-दर्शन के बीच चलनेवाले शुष्क वाद का निवारण करने पर है। इसीलिए वे सर्वज्ञत्व जैसे नाजुक विषय को लेकर भी कुतर्क-निवृत्ति की बात कहते है। एक स्थान पर अर्थात् योगबिन्दु मे तटस्थतापूर्वक अपनी मान्यता का निरूपण है, तो दूसरे स्थान पर अर्थात् योगदृष्टिसमुच्चय मे अपनी अपनी मान्यता की स्थापना के बहाने दार्शनिकों मे चले आने वाले विवादो का निराकरण अभिप्रेत है। वे स्वयं तो योग-विषयक अपने ग्रन्थो मे किसी भी जगह आवेश अथवा कदाग्रह दिखलाते ही नही है। इसे उनकी मध्यस्थता कहनी चाहिए।

यहाँ पर समालोचित हरिभद्र के योग-विषयक चारों ग्रन्थो का उत्तरकाल मे कैसा प्रभाव पडा है—यह प्रश्न स्वभावत उठ सकता है। श्री आनन्दघन ने उनके इन ग्रन्थो मे से किसी न किसी ग्रन्थ का पय-पान किया हो ऐसा लगता है, परन्तु उपाध्याय यशोविजयजी ने तो उनकी योग-विषयक सभी कृतियो मे गहरी डुबकी लगाई है। उनकी 'आठ दृष्टिनी सज्झाय' नाम की गुजराती कृति योगदृष्टिसमुच्चय का सार है,

---

६८. एवमाद्यत्र शास्त्रज्ञैस्तत्त्वत स्वहितोद्यतै।
माध्यस्थ्यमवलम्ब्योच्चैरालोच्य स्वयमेव तु ॥
आत्मीय परकीयो वा क सिद्धान्तो विपश्चिताम्।
दृष्टेष्टावाधितो यस्तु युक्तस्तस्य परिग्रह ॥
—योगबिन्दु, ५२३–४

इसके साथ आ हेमचन्द्र द्वारा काव्यानुशासन की स्वोपज्ञ टीका 'विवेक' मे उद्धृत (पृ. ६) नीचे के श्लोक की तुलना करो—
उपशमफलाद्विद्याबीजात्फलं धनमिच्छतो
भवति विफलो यद्यायासस्तदत्र किमद्भुतम्।
न नियतफला कर्तुं भावा फलान्तरमीशते
जनयति खलु व्रीहेर्बीज न जातु यवाङ्कुरम् ॥

परन्तु वे तो जो गुजराती मे लिखते उसे संस्कृत मे भी लिखते ही थे। उन्होने बत्तीस बत्तीसियाँ लिखी हैं, और उन सब पर स्वोपज्ञ टीका भी। वे बत्तीसियाँ यानी आचार्य हरिभद्र के योग-विषयक ग्रन्थो का नवनीत। उन्होने इन बत्तीसियो का संकलन इस तरह किया है कि जिसमे हरिभद्र के द्वारा प्रतिपादित योग-विषयक समग्र वस्तु आ जाय और विशेष रूप से उन्हे जो कुछ कहना हो उसका भी निरूपण हो जाय। उपाध्यायजी ने अपनी स्वोपज्ञ वृत्ति मे अनेक स्थानो पर ऐसे कई मुद्दो का विशेष स्पष्टीकरण किया है जिनका स्पष्टीकरण हरिभद्र की कृतियों की व्याख्या मे कम देखा जाता है। उपाध्यायजी की कृतियो का अवगाहन करनेवाले को दो लाभ हैं: एक तो यह कि वह उनके विचारो के सीधे परिचय मे आ सकता है, और दूसरा लाभ यह है कि वह उपाध्यायजी के ग्रन्थो के द्वारा ही हरिभद्र की विचारसरणी को पूरी तरह समझ सकता है।

उपसंहार

भारतभूमि मे दर्शन एवं योगधर्म के बीज तो बहुत पहले ही से बोये गये हैं। उसकी उपज भी क्रमश. बहुत बढती गई है। अपने समय तक की इस उपज का प्राचीन गुजरात के एक समर्थ ब्राह्मण-श्रमण आचार्य ने जिस तरह संग्रह किया है और उसमे उन्होने अपने निराले ढंग से जो अभिवृद्धि की है, उसके प्रति विशिष्ट जिज्ञासुओ का ध्यान, इस अल्प प्रयास से भी, आकर्षित हुए बिना नही रहेगा ऐसी मेरी श्रद्धा है।

परिशिष्ट—१

आ० हरिभद्र के जीवनवृत्त का आधारभूत साहित्य

१. अनेकान्तजयपताका—प्रस्तावना (अंग्रेजी) : लेखक श्री हीरालाल रसिकलाल कापड़िया, प्रकाशक गायकवाड़ ओरिएण्टल सिरीज़, बड़ौदा ।

२. आवश्यकसूत्र-शिष्यहिता टीका (सस्कृत) : कर्त्ता हरिभद्रसूरि; प्रकाशक आगमोदय समिति, गोपीपुरा, सूरत ।

३. उपदेशपदटीका (सस्कृत) . कर्ता मुनिचन्द्रसूरि, प्रकाशक श्री मुक्तिकमल जैन मोहनमाला, वडौदा ।

४. उपमितिभवप्रपंचाकथा—प्रस्तावना (अंग्रेजी): लेखक डॉ० हर्मन जेकोबी, प्रकाशक एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल, कलकत्ता ।

५. कहावली (प्राकृत) कर्त्ता भद्रेश्वरसूरि । (अप्रकाशित)

६. कुवलयमाला (प्राकृत) : कर्ता उद्द्योतनसूरि अपर नाम दाक्षिण्यचिह्न, प्रकाशक सिंघी जैन ग्रन्थमाला, भारतीय विद्याभवन, बम्बई–७ ।

७. गणधरसार्धशतक (सस्कृत) कर्ता सुमतिगणी, प्रकाशक झवेरी चूनीलाल पन्नालाल, बम्बई ।

८. गुर्वावली (सस्कृत) · कर्ता मुनिचन्द्रसूरि; प्रकाशक श्री यशोविजय जैन ग्रन्थमाला, बनारस ।

९. चतुर्विशतिप्रबन्ध (सस्कृत) : कर्ता राजशेखरसूरि; प्रकाशक सिंघी जैन ग्रन्थमाला, भारतीय विद्याभवन, बम्बई–७ ।

१०. जैनदर्शन—प्रस्तावना (गुजराती) · लेखक प० श्री बेचरदास जीवराज दोशी, १२ ब भारती निवास सोसाइटी, एलिस ब्रिज, अहमदावाद–६ ।

११. जैन साहित्यनो संक्षिप्त इतिहास (गुजराती) लेखक श्री मोहनलाल दलीचन्द देसाई; प्रकाशक श्री जैन श्वेताम्बर कॉन्फ्रन्स, पायधूनी, बम्बई–२ ।

१२. तत्त्वार्थसूत्र (हिन्दी विवेचन) प्रस्तावना : लेखक प० श्री सुखलालजी, प्रकाशक जैन सस्कृति सशोधक मण्डल, वाराणसी–५ ।

१३. धर्मसंग्रहणी-प्रस्तावना (सस्कृत) : लेखक मुनि श्री कल्याणविजयजी, प्रकाशक श्री देवचन्द लालभाई जैन पुस्तकोद्धार फण्ड, सूरत ।

१४. पंचाशकटीका (सस्कृत) . कर्त्ता अभयदेवसूरि, प्रकाशक श्री जैन धर्म प्रसारक सभा, भावनगर ।

१५. प्रभावकचरित्र (संस्कृत) : कर्ता प्रभाचन्द्रसूरि, प्रकाशक सिंघी जैन ग्रन्थमाला, भारतीय विद्याभवन, बम्बई–७ ।

१६. प्रभावकचरित्र (गुजराती अनुवाद) प्रस्तावना : लेखक मुनि श्री कल्याणविजयजी, प्रकाशक आत्मानन्द जैन सभा, भावनगर ।

१७. हरिभद्रसूरिका समयनिर्णय (जैन साहित्य सशोधक भाग १, अक १ मे प्रकाशित निबन्ध) : लेखक मुनि श्री जिनविजयजी, अनेकान्तविहार, अहमदावाद–९ ।

१८. हरिभद्रसूरिचरित्र – (सस्कृत) लेखक प० हरगोविन्ददास त्रिकमचन्द सेठ, प्रकाशक श्री यशोविजय जैन ग्रन्थमाला, भावनगर ।

१९ समराइच्चकहा – प्रस्तावना (अंग्रेजी) : लेखक डॉ० हर्मन जेकोबी, प्रकाशक एशियाटिक सोसाइटी ऑफ् बगाल, कलकत्ता ।

परिशिष्ट–२

आचार्य हरिभद्र के ग्रन्थों की तालिका *

१. जिन ग्रन्थो के आगे + ऐमा जमा का चिह्न आता है वे अनुपलब्ध हैं, परन्तु उनके नाम दूसरे ग्रन्थों मे मिलते है।

२. जिन ग्रन्थो के साथ "प्राकृत" लिखा है वे प्राकृत भाषा के है; अवशिष्ट संस्कृत भाषा के।

आगम की टीकाएँ

१. अनुयोगद्वार विवृति
+२. आवश्यक बृहत् टीका
३. आवश्यकसूत्र विवृति
४ चैत्यवन्दनसूत्रवृत्ति अथवा ललित-विस्तरा
५. जीवाभिगमसूत्र लघुवृत्ति
६. दशवैकालिकटीका
७. नन्द्यध्ययनटीका
+८. पिण्डनिर्युक्तिवृत्ति †
९ प्रज्ञापनाप्रदेशव्याख्या

आगमिक प्रकरण, आचार, उपदेश

१. अष्टकप्रकरण
२. उपदेशपद (प्राकृत)
३. धर्मबिन्दु
४. पंचवस्तु (प्राकृत) (स्वोपज्ञ संस्कृत टीका युक्त)
५. पंचसूत्र व्याख्या
६. पंचाशक (प्राकृत)
+७. भावनासिद्धि
८. लघुक्षेत्रसमास या जम्बूद्वीप-क्षेत्रसमासवृत्ति
+९ वर्गकेवलिसूत्रवृत्ति
१०. बीस विंशिकाएं (प्राकृत)
११. श्रावकधर्मविधिप्रकरण (प्राकृत)
१२. श्रावकप्रज्ञप्तिवृत्ति
१३. सम्बोधप्रकरण (प्राकृत)
१४ हिंसाष्टक (स्वोपज्ञ अवचूरियुक्त)

---

* योगशतक परिशिष्ट ६ के आधार पर, कतिपय परिवर्तनो के साथ।

† श्री वीराचार्य-रचित पिण्डनिर्युक्ति टीका की प्रारम्भ की उत्थानिका मे स्वय श्री वीराचार्य के द्वारा किये गये उल्लेख के अनुसार ऐसा ज्ञात होता है कि आ० हरिभद्र ने पिण्डनिर्युक्ति की 'स्थापनादोष' तक की वृत्ति लिखी थी, और अवशिष्ट ग्रन्थ की वृत्ति दूसरे किसी वीराचार्य ने पूर्ण की थी। वे मूल श्लोक इस प्रकार हैं:—

पचाशकादिशास्त्रव्यूहप्रविधायिका विवृतिमस्या.।
आरेभिरे विधातु पूर्वं हरिभद्रसूरिवरा ॥७॥
ते स्थापनाख्यदोष यावद्विवृतिं विधाय दिवमगमन्।
तदुपरितनी च कैश्चिद्वीराचार्यै. समाप्येषा ॥८॥

दर्शन

१. अनेकान्तजयपताका (स्वोपज्ञ टीका युक्त)
२ अनेकान्तवादप्रवेश
+३. अनेकान्तसिद्धि
+४. आत्मसिद्धि
५ तत्त्वार्थसूत्र लघुवृत्ति
६. द्विजवदनचपेटा
७. धर्मसंग्रहणी (प्राकृत)
८. न्यायप्रवेशटीका
+९. न्यायावतारवृत्ति
१०. लोकतत्त्वनिर्णय
११. शास्त्रवार्तासमुच्चय (स्वोपज्ञ टीका युक्त)
१२. षड्दर्शनसमुच्चय
१३. सर्वज्ञसिद्धि (स्वोपज्ञ टीका युक्त)
+१४. स्याद्वादकुचोद्यपरिहार

योग

१. योगदृष्टिसमुच्चय (स्वोपज्ञ टीका युक्त)
२. योगविन्दु
३. योगविंशिका (प्राकृत) (बीस विंशिका के अन्तर्गत)
४. योगशतक (प्राकृत)
५. षोडशकप्रकरण

कथा

१. धूर्ताख्यान (प्राकृत)
२. समराइच्चकहा (प्राकृत)

ज्योतिष

१. लग्नशुद्धि-लग्नकुंडलिया (प्राकृत)

स्तुति

१. वीरस्तव
२. संसारदावानल स्तुति (संस्कृत-प्राकृत भाषाद्वयात्मक)

आ. हरिभद्र के नाम पर चढ़े हुए ग्रन्थ

इनके अतिरिक्त अधोलिखित ग्रन्थ आचार्य हरिभद्र के नाम चढे हुए है, परन्तु इसके निर्णय के लिए अधिक प्रमाणो की अपेक्षा रहती है :-

१ अनेकान्तप्रघट्ट
२. अर्हच्चूडामणि
३. कथाकोष
४ कर्मस्तववृत्ति
५ चैत्यवन्दनभाष्य
६. ज्ञानपंचकविवरण
७. दर्शनसप्ततिका
८. धर्मलाभसिद्धि
९. धर्मसार
१०. नाणायत्तक
११. नानाचित्तप्रकरण
१२. न्यायविनिश्चय
१३. परलोकसिद्धि
१४ पंचनियंठी
१५. पंचलिंगी
१६ प्रतिष्ठाकल्प
१७. बृहन्मिथ्यात्वमथन
१८. बोटिकप्रतिषेध
१९ यतिदिनकृत्य
२०. यशोधरचरित्र
२१. वीरागदकथा
२२. वेदबाह्यतानिराकरण
२३. संग्रहणिवृत्ति
२४. संपंचासित्तरी
२५. संस्कृत आत्मानुशासन
२६. व्यवहारकल्प

शब्द सूची

शुद्धिपत्रक

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२	१६	हरिभद्र ने	हरिभद्र के
६	१५	(ईसा-पूर्व दूसरी शतीने)	(ईसा-पूर्व दूसरी शती) ने
६	३१	मज्झिमिश्रा	मज्भिमिश्रा
१२	२४	उपदेश की प्रशस्ति	उपदेशपद की प्रशस्ति
१२	३१	परिशिष्ट २	परिशिष्ट १
१४	२३	रमाण	रममाण
१६	२०	मानाई	मानार्ह
२०	२०	संस्कृत, तद्भव	सस्कृत या तद्भव
२०	२६	सुनीतकुमार चटर्जी	सुनीतिकुमार चटर्जी
२१	१५	विविध शक्ति की	विविध शक्तियो की
२१	१८	अधिष्ठापक	अधिष्ठायक
२२	२५	p. 24	p. 26
२४	१४	से दुद्दिट्ट च भे	से दुद्दिट्ठ च भे
२४	१४	दुस्युय	दुस्सुय
२४	२१	अहितिया	अहिंसिया
२४	२८	निग्गझा	निग्गथा
२४	३४	परिजात्ताई	परिजाणइ
३०	३०	थैरसुलुसा	थेरसुलुसा
३१	२५	" च्छार्योजतो	' च्छायाजित
३२	११	धनाड्य	धनाढ्य
५७	१	तक-पुरस्सर	तर्कपुरस्सर
८६	२	शिववर्त्य	शिववर्त्म

राजस्थान पुरातन ग्रन्थमाला

प्रधान सम्पादक – पद्मश्री मुनि जिनविजय, पुरातत्त्वाचार्य

प्रकाशित ग्रन्थ

१. संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश

१. प्रमाणमंजरी, तार्किकचूडामणि सर्वदेवाचार्यकृत, सम्पादक – मीमांसान्यायकेसरी प० पट्टाभिरामशास्त्री, विद्यासागर। मूल्य – ६.००

२. यन्त्रराजरचना, महाराजा-सवाईजयसिंह-कारित। सम्पादक-स्व० प० केदारनाथ ज्योतिर्विद, जयपुर। मूल्य – १ ७५

३ महर्षिकुलवैभवम्, स्व० प० मधुसूदनओझा-प्रणीत, भाग १, सम्पादक–म० म० प० गिरिधरशर्मा चतुर्वेदी। मूल्य – १०.७५

४. महर्षिकुलवैभवम्, स्व० प० मधुसूदनओझा प्रणीत, भाग २, मूलमात्रम् सम्पादक – प० श्रीप्रद्युम्न ओझा। मूल्य – ४ ००

५ तर्कसंग्रह, अन्नंभट्टकृत, सम्पादक – डॉ जितेन्द्र जेटली, एम.ए, पी-एच. डी, मूल्य–३.००

६ कारकसंबंधोद्योत, प० रभसनन्दीकृत, सम्पादक – डॉ० हरिप्रसाद शास्त्री, एम. ए, पी-एच डी। मूल्य – १ ७५

७. वृत्तिदीपिका, मौनिकृष्णभट्टकृत, सम्पादक–स्व प. पुरुषोत्तमशर्मा चतुर्वेदी, साहित्याचार्य। मूल्य – २.००

८. शब्दरत्नप्रदीप, अज्ञातकर्तृक, सम्पादक – डॉ. हरिप्रसाद शास्त्री, एम. ए, पी-एच डी.। मूल्य – २ ००

९. कृष्णगीति, कवि सोमनाथकविरचित, सम्पादिका – डॉ. प्रियबाला शाह, एम. ए., पी-एच.डी., डी लिट्। मूल्य – १.७५

१०. नृत्तसंग्रह अज्ञातकर्तृक, सम्पादिका – डॉ प्रियबाला शाह, एम. ए, पी-एच डी, डी लिट् मूल्य – १ ७५

११ शृङ्गारहारावली, श्रीहर्षकवि-रचित, सम्पादिका–डॉ. प्रियबाला शाह, एम. ए, पी-एच.डी., डी लिट्। मूल्य – २ ७५

१२. राजविनोदमहाकाव्यम्, महाकवि उदयराजप्रणीत, सम्पादक–पं० श्रीगोपालनारायण बहुरा, एम. ए. उपसञ्चालक, राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर। मूल्य–२ २५

१३ चक्रपाणिविजय महाकाव्य, भट्टलक्ष्मीधरविरचित, सम्पादक–प० श्रीकेशवराम काशीराम शास्त्री। मूल्य – ३.५०

१४. नृत्यरत्नकोश (प्रथम भाग), महाराणा कुम्भकर्णकृत, सम्पादक–प्रो. रसिकलाल छोटालाल पारीख तथा डॉ० प्रियबाला शाह, एम. ए, पी-एच डी, डी. लिट्। मूल्य–३ ७५

१५ उक्तिरत्नाकर, साधसुन्दरगणिविरचित, सम्पादक – पद्मश्री मुनि श्रीजिनविजयजी, पुरातत्त्वाचार्य, सम्मान्य सचालक, राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर। मूल्य – ४.७५

१६. दुर्गापुष्पाञ्जलि, म०म० पं० दुर्गाप्रसादद्विवेदिकृत सम्पादक – प० श्रीगङ्गाधर द्विवेदी, साहित्याचार्य। मूल्य – ४ २५

१७. कर्णकुतूहल, महाकवि भोलानाथविरचित, इन्ही कविवर की अपर संस्कृतकृति श्रीकृष्णलीलामृतसहित, सम्पादक–प० श्रीगोपालनारायण बहुरा, एम ए., मूल्य – १ ५०

१८ ईश्वरविलासमहाकाव्यम्, कविकलानिधि श्रीकृष्णभट्टविरचित, सम्पादक–भट्ट श्रीमथुरानाथशास्त्री, साहित्याचार्य, जयपुर। स्व पी. के गोडे द्वारा अंग्रेजी मे प्रस्तावना सहित। मूल्य – ११ ५०

१९. रसदीर्घिका, कविविद्यारामप्रणीत, सम्पादक – प० श्रीगोपालनारायण बहुरा, एम.ए. मूल्य – २.००

२०. पद्यमुक्तावली, कविकलानिधि श्रीकृष्णभट्टविरचित, सम्पादक – भट्ट श्रीमथुरानाथ शास्त्री, साहित्याचार्य। मूल्य – ४ ००

२१. काव्यप्रकाशसङ्केत, भाग १ भट्टसोमेश्वरकृत, सम्पा०–श्रीरसिकलाल छो० पारीख, अंग्रेजी मे प्रस्तावना एव परिशिष्ट सहित मूल्य – १२ ००

२२ काव्यप्रकाशसङ्केत, भाग २ भट्टसोमेश्वरकृत, सम्पा०–श्रीरसिकलाल छो० पारीख, मूल्य – ८ २५

२३ वस्तुरत्नकोष, अज्ञातकर्तृक, सम्पा०-डॉ० प्रियबाला शाह। मूल्य – ४-००
२४ दशकण्ठवधम्, प० दुर्गाप्रसादद्विवेदिकृत, सम्पा०-पं० श्रीगङ्गाधर द्विवेदी। मूल्य – ४ ००
२५. श्री भुवनेश्वरीमहास्तोत्र, सभाष्य, पृथ्वीधराचार्यविरचित, कवि पद्मनाभकृत, भाष्य-सहित पूजापञ्चाङ्गादिसवलित। सम्पा०प. श्रीगोपालनारायण वहुरा। मूल्य – ३.७५
२६. रत्नपरीक्षादि-सप्त ग्रन्थ-सग्रह, ठक्कुर फेरू विरचित, सशोधक – पद्मश्री मुनि जिनविजय, पुरातत्त्वाचार्य। मूल्य – ६.२५
२७. स्वयभूछन्द, महाकवि स्वयभूकृत, सम्पा० प्रो० एच. डी वेलणकर। विस्तृत भूमिका (अग्रेजी मे) एव परिशिष्टादि सहित मूल्य – ७.७५
२८. वृत्तजातिसमुच्चय, कवि विरहाङ्करचित, ,, ,, ,, मूल्य – ५.२५
२९. कविदर्पण, अज्ञातकर्तृक, ,, ,, , मूल्य – ६.००
३०. कर्णामृतप्रपा, भट्ट सोमेश्वरकृत सम्पा०-पद्मश्री मुनि जिनविजय। मूल्य – २.२५
३१. त्रिपुराभारती लघुस्तव, लघुपण्डितविरचित, सम्पा० ,, मूल्य – ३.२५
३२ पदार्थरत्नमञ्जूषा, प० कृष्णमिश्रविरचिता, सम्पा० ,, मूल्य – ३.७५
३३ वृत्तमुक्तावली, कविकलानिधि श्रीकृष्णभट्ट कृत, स० पं० भट्टश्रीमथुरानाथ शास्त्री। मूल्य – ३.७५
३४. इन्द्रप्रस्थप्रवन्ध, सम्पा० डॉ० दशरथ शर्मा, मूल्य – २.२५

२. राजस्थानी और हिन्दी

३५. कान्हडदेप्रवन्ध, महाकवि पद्मनाभविरचित, सम्पा० – प्रो० के वी. व्यास, एम. ए.। मूल्य – १२.२५
३६. क्यामखां-रासा, कविवर जान-रचित, सम्पा०-डॉ. दशरथ शर्मा और श्रीअगरचन्द नाहटा। मूल्य–४.७५
३७. लावा-रासा, चारण कविया गोपालदानविरचित, सम्पा०–श्रीमहतावचन्द खारैड। मूल्य – ३.७५
३८. वांकीदासरी ख्यात, कविराजा वाकीदासरचित, सम्पा०–श्रीनरोत्तमदास स्वामी, एम ए, विद्यामहोदधि। मूल्य – ५.५०
३९ राजस्थानी साहित्यसंग्रह, भाग १, सम्पा०–श्रीनरोत्तमदास स्वामी, एम.ए.। मूल्य–२.२५
४०. राजस्थानी साहित्यसंग्रह, भाग २, सम्पा०–श्रीपुरुषोत्तमलाल मेनारिया, एम. ए., साहित्यरत्न। मूल्य – २ ७५
४१ कवीन्द्र कल्पलता, कवीन्द्राचार्य सरस्वतीविरचित, सम्पा० – श्रीमती रानी लक्ष्मीकुमारी चूडावत। मूल्य – २.००
४२ जुगलविलास, महाराजा पृथ्वीसिंहकृत सम्पा० – श्रीमती रानी लक्ष्मीकुमारी चूडावत। मूल्य – १.७५
४३ भगतमाल, ब्रह्मदासजी चारण कृत, सम्पा०–श्री उदैराजजी उज्ज्वल। मूल्य – १ ७५
४४. राजस्थान पुरातत्त्व मन्दिरके हस्तलिखित ग्रंथोकी सूची, भाग १। मूल्य – ७ ५०
४५. राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठानके हस्तलिखित ग्रथोकी सूची, भाग २। मूल्य – १२.००
४६ मुहता नैणसीरी ख्यात, भाग १, मुहता नैणसीकृत, सम्पा०–श्रीबद्रीप्रसाद साकरिया। मूल्य – ८.५०
४७. ,, ,, ,, ,, २, ,, ,, ,, मूल्य – ९ ५०
४८. रघुवरजसप्रकास, किसनाजी आढाकृत, सम्पा०–श्री सीताराम लालस। मूल्य – ८ २५
४९ राजस्थानी हस्तलिखित ग्रन्थ-सूची, भाग १, सं. पद्मश्री मुनि श्रीजिनविजय। मूल्य–४ ५०
५०. राजस्थानी हस्तलिखित ग्रन्थ-सूची, भाग २ – सम्पा०–श्री पुरुषोत्तमलाल मेनारिया एम ए, साहित्यरत्न। मूल्य – २ ७५
५१ वीरवाण, ढाढी बादरकृत सम्पा०–श्रीमती रानी लक्ष्मीकुमारी चूडावत। मूल्य – ४ ५०
५२ स्व० पुरोहित हरिनारायणजी विद्याभूषण-ग्रन्थ-संग्रह-सूची, सम्पा०–श्रीगोपालनारायण बहुरा, एम. ए और श्रीलक्ष्मीनारायण गोस्वामी, दीक्षित। मूल्य – ६.२५

५३ सूरज प्रकाश, भाग १–कविया करणीदानजी कृत, सम्पा०–श्री सीताराम लालस। मूल्य – ८.००
५४. „ „ २ „ „ „ „ मूल्य – ९.५०
५५ „ „ ३ „ „ „ „ मूल्य – ९ ७५
५६. नेहतरंग, रावराजा बुधसिंह कृत – सम्पा–श्री रामप्रसाद दाधीच एम.ए. मूल्य – ४ ००
५७ मत्स्यप्रदेश की हिन्दी-साहित्य को देन, प्रो मोतीलालगुप्ता एम ए.,पी–एच डी मूल्य–७ ००
५८ वसन्तविलास फागु, अज्ञातकर्तृक, सम्पा०–श्री एम. सी मोदी। मूल्य – ५ ५०
५९ राजस्थान में संस्कृत साहित्य की खोज – एस आर. भाण्डारकर, हिन्दी अनुवादक–श्री ब्रह्मदत्त त्रिवेदी, एम ए., साहित्याचार्य, काव्यतीर्थ मूल्य – ३.००
६० समदर्शी आचार्य हरिभद्र – श्रीसुखलालजी सिंघवी, मूल्य – ३ ००

प्रेसों में छप रहे ग्रंथ

संस्कृत

१. शकुनप्रदीप, लावण्यशर्मारचित, सम्पा०–पद्मश्री मुनि श्रीजिनविजय।
२. बालशिक्षाव्याकरण, ठक्कुर संग्रामसिंहरचित, सम्पा०–पद्मश्री मुनि श्रीजिनविजय।
३. नन्दोपाख्यान, अज्ञातकर्तृक, सम्पा०–श्री बी जे. सांडेसरा।
४. चान्द्रव्याकरण, आचार्य चन्द्रगोमिविरचित, सम्पा०–श्री बी डी दोशी।
५ प्राकृतानन्द, रघुनाथकविरचित, सम्पा०–पद्मश्री मुनि श्रीजिनविजय।
६. कविकौस्तुभ, प० रघुनाथरचित, सम्पा०–श्री एम एन गोरे।
७ एकाक्षर नाममाला – सम्पा०–मुनि श्री रमणिकविजय।
८. नृत्यरत्नकोश, भाग २, महाराणा कुंभकर्णप्रणीत, सम्पा०–श्री आर. सी. पारीख और डॉ प्रियबाला शाह।
९. हमीरमहाकाव्यम्, नयचन्द्रसूरिकृत, सम्पा०–पद्मश्री मुनि श्रीजिनविजय।
१० स्थूलिभद्रकाकादि, सम्पा०–डॉ० आत्माराम जाजोदिया।
११ वासवदत्ता, सुबन्धुकृत, सम्पा०–डॉ० जयदेव मोहनलाल शुक्ल।
१२ आगमरहस्य, स्व० प० सरयूप्रसादजी द्विवेदी कृत, सम्पा०–प्रो० गङ्गाधर द्विवेदी।

राजस्थानी और हिन्दी

१३. मुंहता नैणसीरी ख्यात, भाग ३, मुहता नैणसीकृत, सम्पा०–श्रीबद्रीप्रसाद साकरिया।
१४. गोरा बादल पदमिणी चऊपई कवि हेमरतनकृत सम्पा०–श्रीउदयसिंह भटनागर, एम.ए.।
१५. राठौड़ारी वंशावली, सम्पा०–पद्मश्री मुनि श्रीजिनविजय।
१६. सचित्र राजस्थानी भाषासाहित्यग्रन्थसूची, सम्पा०–पद्मश्री मुनि श्रीजिनविजय।
१७ मीरां-बृहत्-पदावली, स्व० पुरोहित हरिनारायणजी विद्याभूषण द्वारा सकलित, सम्पा०–पद्मश्री मुनि श्रीजिनविजय।
१८ राजस्थानी साहित्यसग्रह, भाग ३, सपादक–श्रीलक्ष्मीनारायण गोस्वामी।
१९. रुक्मिणी-हरण, सायाजी झूला कृत, सम्पा०-श्री पुरुषोत्तमलाल मेनारिया, एम.ए.,सा रत्न।
२० सन्त कवि रज्जब · सम्प्रदाय और साहित्य, डॉ० व्रजलाल वर्मा।
२१ पश्चिमी भारत की यात्रा, कर्नल जेम्स टॉड, अनु० श्रीगोपालनारायण बहुरा, एम ए
२२. बुद्धिविलास, बखतराम शाहकृत, सम्पा०–श्रीपद्मधर पाठक, एम ए
२३. प्रतापरासो, जाचीक जीवणकृत, सम्पा० प्रो० मोतीलाल गुप्त, एम ए, पी–एच डी

अंग्रेजी

24. Catalogue of Sanskrit and Prakrit Manuscripts Part I, R.O.R.I. (Jodhpur Collection), ed, by Padmashree Jinvijaya Muni, Puratattvacharya
25. A List of Rare and Reference Books in the R.O.R.I., Jodhpur, compiled by P D Pathak, M A

विशेष – पुस्तक-विक्रेताओं को २५% कमीशन दिया जाता है।